टाइम्स आफ इंडिया प्रकाशन

सारिका

कहानियों और कथा जगत की जीवंत पाक्षिकी

वर्ष : २५, अंक :६८२; जून'८५ प्रथम पक्ष; मूल्य : ४ रुपये

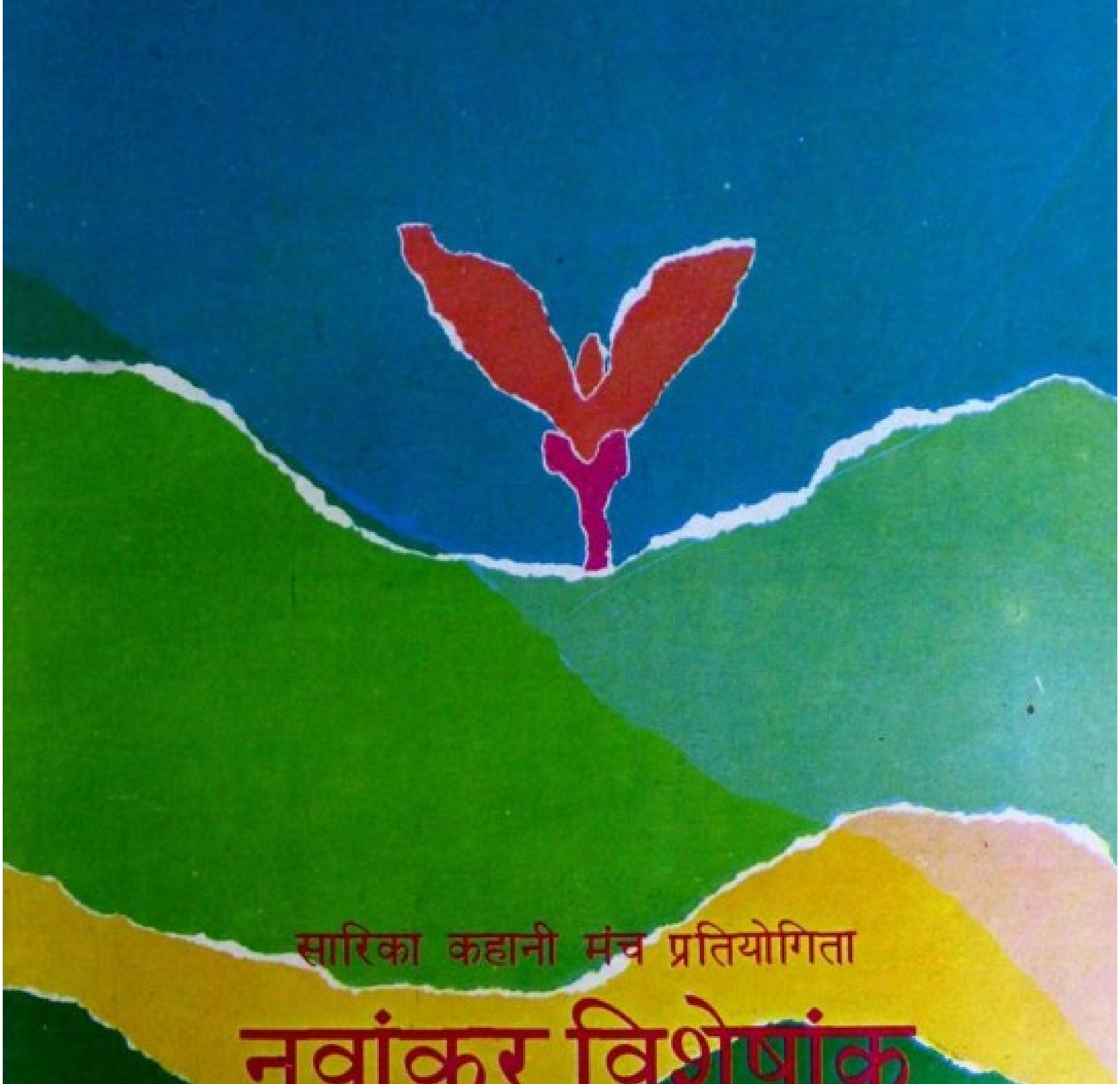

सारिका कहानी मंच प्रतियोगिता

नवांकुर विशेषांक

सारिका

टाइम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन

कहानियों और कथा-जगत की जीवंत पाक्षिकी

वर्ष : 25, अंक : 382, 1 से 15 जून, 1985

संपादक :
अवधनारायण मुद्‌गल
उप-संपादक :
रमेश बतरा
सुरेश उनियाल
बलराम
महेश दर्पण
वीरेंद्र जैन
सज्जा :
सुनीता

नवांकुर विशेषांक

आवरण : सुनीता

पुरस्कृत कहानियां

10 खंडहर (प्रथम पुरस्कार) : बनवारी लाल नेहरा
15 रथ पे रानी (द्वितीय पुरस्कार) : सरोज पोखरियाल
17 नाती बहू (तृतीय पुरस्कार) : प्रमोदकुमार ब्रह्मभट्ट
23 लहरों का द्वंद्व : राजेश श्रीवास्तव
26 अखंडित इंद्रधनुष : राजेश तिवारी
28 मेरा एक दोस्त ऐसा है : मिया मुसव्विर खान
33 हस्ती मिटती नहीं हमारी : केशवराम
37 हवाई जहाज : राजनारायण बोहरे
39 सुबह : आशीष बनर्जी
41 ई का कइले रे निसतनियाँ : अशोक कुमार
47 बिखरता हुआ सच : अलका अग्रवाल
51 वह सब : सीमा शर्मा
53 निर्दोष प्रायश्चित : सुरभि रैना

अन्य कहानियां

57 सिर्फ एक मौत (आत्मावलोकन) : जितेंद्र भाटिया
63 और सपने सच हो गये : राज उपाध्याय
65 चरित्रहीन कौन? बाला शर्मा

साक्षात्कार

60 मैं कठमुल्लापन में विश्वास नहीं रखता : पंडित बनारसी दास चतुर्वेदी के साथ शैलेंद्र गुप्त शैली की बातचीत.

लघु रचनाएं

25 तर्क : भगवती प्रसाद द्विवेदी
36 ऊंची बस्ती, बड़े लोग : अशोक कुमार महाजन
52 आंकड़े : कमल सौगानी
62 पितृभक्ति : श्रीनिवास वत्स

अन्य आकर्षण

6 आपकी बात
9 अपनी बात
58 जीवन के प्रति लेखक की आस्था कायम है : आशीष सिन्हा
71 पखवारे की पुस्तकें : चंद्रकांत बांदिवडेकर

संपादकीय पता : सारिका, 10 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

पाठकों की सुविधा एवं बचत के लिए

नये रूपाकार में सारिका का यह अंक आपके हाथों में है. इस रूपाकार में हम आपको 100 पृष्ठों से अधिक की सामग्री 76 पृष्ठों में ही दे रहे हैं जबकि मूल्य में वृद्धि केवल 50 पैसे की ही हुई है. यदि आप वार्षिक चंदा हमें सीधे भेजें तो वर्ष में आपको 6 रुपये की और भी बचत हो सकती है. आपको करना केवल इतना है कि अपने शुल्क की राशि हमें बैंक ड्राफ्ट/मनी आर्डर/पोस्टल आर्डर सहित नीचे दिये गये कूपन के साथ तत्काल भेज दें.

शुल्क की रियायती दरें इस प्रकार हैं :

देश में (बंगलादेश, नेपाल सहित)

वार्षिक : 90 रुपये

छमाही : 47 रुपये

विदेश में सिर्फ समुद्री डाक से :

144 रुपये वार्षिक

कृपया मुझे/हमें निम्न पते पर एक वर्ष/छह मास के लिए 'सारिका' भेजने की व्यवस्था करें. समुचित राशि संलग्न है.

नाम ....

पता ....

....

....

हस्ताक्षर ....

शुल्क तथा कूपन कृपया इस पते पर भेजें.
मुख्य प्रसार प्रबंधक
सारिका, टाइम्स ऑफ इंडिया,
7, बहादुरशाह जफर मार्ग,
नयी दिल्ली-110002

अगला अंक

इक्कीसवीं सदी में ले जायेगी हमें कौन-सी छलांग ?

राजनीतिक कयासों से अलग अपने भविष्य की आर्थिक व सामाजिक संभावनाओं का जायजा ले रही हैं—नये दौर में पनपी नयी पीढ़ी की निगहबान निगाहें—

सारिका: सर्वभाषा कहानी एवं लघुकथा प्रतियोगिता : १९८४ के अंतर्गत करीब दस हजार रचनाओं में से चुनी गयी—घर से लेकर सरहद तक की दुनिया को उकेरती आठ कहानियां और आठ लघुकथाएं प्रस्तुत कर रही हैं—सारिका : रजत जयंती वर्ष की बारहवीं सौगात—

पुरस्कार विशेषांक

साथ ही—

बाइस वर्ष पूर्व आयोजित सारिका कहानी प्रतियोगिता : १९६३ के तहत प्रथम पुरस्कार विजेता कहानी—घर-धुसरा.

- वर्ष : १९८४ की कहानियां
- वर्ष : १९८४ के उपन्यास
- वर्ष : १९८४ की पत्रिकाएं एवं साहित्यिक हलचल

सारिका

अपनी प्रति आज ही सुरक्षित करवा लें.
प्रत्येक अंक : विशेष अंक 16 जून, 1985

अपनी बात

रचनात्मक धरातल पर युवाशक्ति के इस्तेमाल का सवाल

हमने 1983 में देश के महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के छात्रों के लिए 'सारिका कहानी मंच' की स्थापना की थी. हमारे नौजवान छात्र दोस्तों ने इस मंच के लिए स्थापना वर्ष में जो उत्साह दिखाया, वह धीरे-धीरे कम होता गया. 1984 में बननेवाले मंचों की संख्या बहुत कम रह गयी और '85 के इन 5 महीनों में और भी कम हुई. इस अनुत्साह के पीछे क्या कारण हो सकता है, यह मैं सोच नहीं पा रहा. मुझे नयी पीढ़ी के प्रति विशेष आस्था रही है. इस अनुत्साह ने भी उस आस्था को समाप्त नहीं किया है, सिर्फ उसमें एक हल्का-सा कंपन पैदा कर दिया है और एक सवाल भी—क्या हमारी युवा पीढ़ी या कथा जगत की भावी पीढ़ी रचनात्मक जमीन पर पैर टिकाने से डर या कतरा रही है? इसी एक सवाल के इर्द-गिर्द बहुत से छोटे-छोटे सवाल उग आये हैं, जैसे कि क्या उनके प्रति शिक्षक वर्ग उदासीन है, क्या व्यवस्था आज्ञा नहीं देती, क्या वे चारों ओर अनुकूल वातावरण नहीं बना पाये, क्या परिवार जनों का उनकी पढ़ाई के प्रति अतिरिक्त आग्रह है, और यह आयोजन उन्हें किसी तरह का बाधक लगता है अथवा मंच की पूरी योजना में ही कोई कमी है? इन सवालों के जवाब हम अपने छात्र मित्रों से ही पूछ रहे हैं.

'सारिका' ने पिछले वर्ष की तरह इस वर्ष भी 'नवांकुर विशेषांक के प्रकाशन की योजना बनायी और उसे कार्यरूप में परिणत कर रही है. यह अंक इसका प्रमाण है. यह सही है कि इस वर्ष पिछले वर्ष की अपेक्षा रचनाएं कुछ अधिक आयीं लेकिन रचनाओं की संख्या का 150 से बढ़कर 200 हो जाना कोई विशेष महत्व नहीं रखता. हम कहीं अधिक संख्या की आशा रखते थे.

हां, एक बात की मुझे खुशी है कि हमारे इन नये मित्रों के लेखन स्तर में उत्तरोत्तर सुधार हुआ है. इनकी दृष्टि में व्यापकता आयी है. भाषा अपेक्षाकृत सहज हुई है. सोचने, महसूस करने, अभिव्यक्त करने और तर्क देने तथा चीजों को समझने का तरीका बदला है, यह स्थिति अपने आप में एक शुभ लक्षण है. यह स्थिति और भी स्पष्ट हो, सहज हो, ऐसी हमारी कामना है. हम इतना विश्वास और दिला देना चाहते हैं कि यदि हमारे छात्र मित्रों के मन में लेखन के प्रति आस्था और उत्साह है और वे अपने यहां तथा दूसरे महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में 'सारिका कहानी मंच' स्थापित करवाते हैं तो हम स्थिति का सही और उपयोगी प्रमाण मिल जाने पर हर महीने 'सारिका कहानी मंच' के तहत एक कहानी प्रकाशित करने का स्थान निश्चित कर सकते हैं. हम इस योजना की विधिवत घोषणा तभी करेंगे जब हमें आपके उत्साह का और मंच के प्रति रुचि का विश्वास हो जायेगा. इसके अनुकूल स्थितियां आपको खुद बनानी होंगी, हम सिर्फ सैद्धांतिक सहयोग ही दे सकते हैं.

सारिका का सैद्धांतिक सहयोग भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि सक्रिय या क्रियात्मक सहयोग. उसका कारण यह है कि सारिका जो कुछ कहती है उसे करती भी है. यह वर्ष युवा वर्ष है और सारिका युवाशक्ति की मात्र समर्थक ही नहीं, पक्षधर भी है. हम युवाशक्ति को सही रचनात्मक मंच दे सकें, यही प्रयत्न है. और हमें अपनी सफलता का विश्वास भी है. इस विश्वास का कारण इस शक्ति के प्रति हमारी गहरी आस्था है. देश की संपूर्ण युवाशक्ति से हमारा आग्रह है कि वह स्वयं को स्वार्थी राजनीतिज्ञों के हाथ का खिलौना न बनने दें और अपना गलत इस्तेमाल न होने दें. किसी भी शक्ति का सही इस्तेमाल ही उसकी सार्थकता होती है. आग जलाती भी है और लोगों को खाना भी देती है. जरूरी यह देखना है कि उसे किस काम में लगने दिया जाये.

आज हमारे चारों ओर आत्मघाती स्थितियां पैदा होती जा रही हैं. और काफी हद तक पैदा हो चुकी हैं. यह शायद इसलिए भी हो सकता है क्योंकि बुझती हुई आग को ठंडी राख बन जाने का खतरा महसूस हो रहा है और चाहे राख के ढेर में ही सही, वह अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए अपनी छाती पर जवान आग जलाये रखना चाहती है. आग के जलते रहने को बुरा नहीं कहा जा सकता, बुरा है, उसे बस्ती की ओर हवा देना. और यही हो रहा है. यह न स्वयं आग के लिए शुभ है और न दूसरों के लिए या बस्ती के लिए ही. हम इसीलिए बार-बार युवा शक्ति के सही उपयोग की बात कर रहे हैं और सारिका का यह अंक उसी युवाशक्ति को समर्पित कर रहे हैं जो रचनात्मक और निर्माणात्मक भूमिका निबाहने के लिए प्रतिबद्ध है.

अ. भा. द्विवेला.

आपकी बात

राजेंद्रसिंह बेदी विशेषांक

अपने ही परिवेश के गिर्द

सारिका का (377वां अंक) बेदी साहब पर विशेषांक का प्रारूप एक अविस्मरणीय निधि बन गया. बेदी साहब पर दी गयी सामग्री उनकी विविधता पूर्ण जिंदगी से व्यापक साक्षात्कार कराने में पूर्णतः सफल रही.

समस्त कहानियां अपने-आप में बेजोड़ हैं, परंतु **'गर्मकोट', 'रहमान के जूते', 'सिर्फ एक सिगरेट'** व **'लाजवंती'** ने विशेष प्रभावित किया. अपनी इन कहानियों में बेदी साहब ने जीवन के अभूतपूर्व पहलुओं को इतनी सूक्ष्मता से अपनी कलम के जरिये प्रस्तुत किया है कि आज भी पाठक को अपने ही परिवेश के गिर्द घूमती महसूस होती है. व्यक्ति, परिवार व समाज के रिश्तों की यह सूक्ष्म पकड़ लेखक के सफल साहित्यकार होने की प्रामाणिकता को सिद्ध करती है.

'अपनी बात' में मुद्गल जी के उद्गार—"बेदी पर सोचना व्यक्ति पर सोचना नहीं अपितु संस्था पर सोचना है, क्योंकि वह अपने आप में संस्था थे—" अक्षरशः यथार्थ महसूस होते हैं. बेदी साहब की **'मंदिर'** व **'हादसे'** लघु कथाएं पाठक को गहरायी तक सोचने के लिए बाध्य करती हैं. **ख्वाजा अहमद अब्बास** का संस्मरण-**'साहित्यकार की मौत डबल ट्रेजिडी'** कटु सत्य से सामना कराता है जो हर उस चाहनेवाले को डबल सालती है. **'बेदी साहब ने कला के साथ वेश्यावृत्ति नहीं की'**, **कमलेश्वर** महान की विचारोत्तेजक रपट उनके फिल्मी कैरियर को सच्चाई के साथ प्रस्तुत करती है. मानवीय रिश्तों का ठंडा यथार्थ, जो व्यक्ति को आम दर्शक व समाज को काले बिच्छू की तरह डस रहा है. हकीकत को आम दर्शक झेल नहीं पाया, जैसा कि आज भी समांतर सिनेमा में हो रहा है और बेदी साहब की फिल्मकारी सफलता में प्रश्नचिन्ह लगा गया.

o **देवेंद्र कुमार तिवारी, फतेहपुर**

मरणोपरांत सम्मान

एक ही बैठक में पूरा पढ़ गया. काफी अच्छा प्रयास किया एक दुर्लभ संकलन के लिये.

"यदि बेदी साहब के सामने यह अंक निकला होता तो इसका स्वरूप ही कुछ और होता."

सच ही तो है, याद तभी आती है, जब कोई बिछुड़ जाता है. खैर, जो सम्मान बेदी जी को इस अंक के द्वारा दिया जा रहा है (मरणोपरांत ही सही) 'सारिका परिवार' बधाई का पात्र है.

अंत में यह निवेदन–यदि 'अंतरराष्ट्रीय युवावर्ष' के उपलक्ष्य में एक **'युवाशक्ति विशेषांक'** निकाला जाय, तो अत्यंत खुशी होगी.

o **सुरेंद्रसिंह पंवार, जबलपुर (म. प्र.)**

जीवन की खुली किताब

विशेषांक अपने आप में दस्तावेज था, पढ़ा. **बेदी जी** के बारे में वैसे खास तो नहीं परंतु कुछ-कुछ अवश्य पढ़ा था, जाना था. परंतु जो साहित्यिक पहचान बेदी जी से पहले थी, **'सारिका'** ने इस विशेषांक के माध्यम से उसमें और निखार ला दिया है. बेदी जी का रचना संसार जिसमें मानव के दुःखों का समंदर अथाह पूर्ण रहा है. वास्तव में बेदी जी ने जो देखा-जाना उन्होंने उसे खुलकर दुनिया के सामने अपनी कलम के सहारे से वैसा का वैसा दिखाया. बेदी स्वयं सच्चे मानव थे. अंतर्मात्मा की आवाज को उन्होंने बिना लाग-लपेट के प्रदर्शित किया है. उन्होंने अपने जीवन को खुली किताब के समान रखा, सबने पढ़ा, और पसंद किया.

एक महान रचनाकार के अलावा वे एक सच्चे मनुष्य थे. इन सब बातों का बखान सारिका पढ़कर ही शांत हुआ. सारिका ने बेदी जी के बारे में जितना दिया उसका भरपूर उपयोग मुझ जैसा पाठक अवश्य करेगा.

o **मिश्रीलाल चौहान 'स्नेही', खरगोन**

एक अद्वितीय साहित्यकार का स्मरण

सारिका को बधाई एवं साधुवाद देना चाहता हूं. विशेषांक न केवल खोजपूर्ण है वरन् जानकारी पूर्ण भी है. बेदी साहब के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से संबंधित विपुल सामग्री एक ही स्थान पर संग्रहीत देखकर हर्ष हुआ. यह संतोष का विषय है कि सारिका ने दुष्यंत, रेणु तथा मंटो विशेषांकों की परंपरा का निर्वाह चर्चित विशेषांक में भी किया.

बेदी की रचनाएं श्लाघनीय एवं मर्मस्पर्शी हैं. उन्हें पढ़ते समय पाठक का लेखक से तादात्म्य हुए बिना नहीं रहता. उनकी रचनाएं यथार्थ के ठोस धरातल पर लिखीं, ऐसी मुंह बोलती तस्वीरें हैं कि पाठक के हृदय में सीधे उतर जाती हैं. उन्होंने गंभीर से गंभीर विषय को ऐसे सीधे सपाट लहजे में वर्णित किया है कि पाठक वाह और आह दोनों ही कहने पर मजबूर हो जाता है. कथ्य का शिल्प अत्यंत सुबोध हास-परिहास पूर्ण तथा कहीं-कहीं व्यंग्यात्मक है, जिससे रचना का प्रभाव सीधा चोट करता प्रतीत होता है.

—**गिरीश पंकज, रायपुर**

बेदी : एक गैरमामूली इनसान

मरहूम राजेंद्र सिंह बेदी विशेषांक निकालकर मरहूम के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित की है. विशेषांक मरहूम बेदी साहब की जिंदगी का आईना था जिसमें मुझे वह एक ऐसे गैर मामूली नजर आये कि अब शायद ही कोई दूसरा मरहूम-सा पैदा हो. सारिका को साधुवाद.

o **बुरहानुद्दीन, इंदौर**

दुर्लभ जानकारियां

एक बड़े अंतराल के बाद सारिका ने किसी महान लेखक के संपूर्ण लेखकीय योगदान को पुनः एक रोचक ज्ञानवर्धक व स्मरणीय संग्रहणीय रूप में प्रस्तुत किया है—तो मेरी ओर से **बेदी जी** के संबंध में ऐसी लबालब दुर्लभ जानकारियां जुटाने के लिये, समस्त सारिका परिवार को बार-बार बधाई.

o **सुभाष गुप्ता, जबलपुर (म. प्र.)**

मज्जा नहीं आया

विशेषांकों के क्रम में **बेदी विशेषांक** अच्छा लगा. लेकिन एक शिकायत बहुत जबरदस्त है. कृतियों के संक्षिप्तीकरण में इसका ख्याल अवश्य रखें कि मूल आत्मा का स्वर नष्ट नहीं होने पाये. **'एक चादर मैली-सी'** का संक्षिप्त पसंद नहीं आया. **'हज्जाम इलाहाबाद के'** मेरे ख्याल से पहली बार सारिका में ही छपी थी. मूल और इसमें काफी अंतर है. कुछ कृतियां ऐसी होती हैं जिनका संक्षिप्त हो ही नहीं सकता. हज्जाम इलाहाबाद के में संक्षिप्तीकरण के कारण मज्जा नहीं आया. बेदी के चुटीले वाक्यों का संक्षिप्त हो ही नहीं सकता. फिर भी अच्छी सामग्री के लिये शुक्रिया.

o **सिद्धेश्वर नाथ पांडेय, पटना**

सोची हुई बात

रजत जयंती वर्ष की प्रत्येक भेंट में सारिका एक धमाके की शक्ल में हाजिर हो रही है. पहले सारिका साल में कुछेक बार ही अपनी विशेषांक की अदा से जवाजती थी लेकिन रजत जयंती के इस वर्ष में खुदा की पनाह, कहर पे कहर ढा रही है. इसके इंतजार में दिल इस बेसब्री से उछलता है कि प्रेमिका के इंतजार को भी इतना लुत्फ नसीब नहीं: **राजेंद्र सिंह बेदी विशेषांक** हाथ में आया. मैं पहले से ही अनुमान लगा रहा था कि '**एक चादर मैली-सी**' का संक्षिप्त रूपांतर या कथा-सार अवश्य होगा क्योंकि यह सारिका की खास अदा है और खास हुस्न. और वाकई यह एक अच्छी पेशकश थी. '**लाजवंती**' का तो जवाब नहीं, **कृश्नचंदर** की '**पेशावर एक्सप्रेस**' और **मंटो** की '**तोबा टेकसिंह**' की याद दिलाती है. दूसरी ओर '**सिर्फ एक सिगरेट**' भी अमर कहानी है. जब तक पैसे पर आधारित यह व्यवस्था है तब तक इस कहानी की प्रासंगिकता रहेगी और दुहराई जायेगी. लेकिन मेरे ख्याल में '**मुअत्तिली**' बीच में लपक पड़ी. इसकी जगह क्यों न आपने '**भोला**' को शामिल किया. विश्व शांति और युद्ध विरोधी भावना के लिए नामुफ्ता की शमूलियत भी काबिले-तारीफ रहती. फिर भी सारिका की जितनी तारीफ की जाये कम है.

0 ताज हुसन, बेगूसराय (बिहार)

धुएं की लकीरें जिंदगी हैं

राजेंद्र सिंह बेदी के ऊपर निकाला गया विशेषांक पूरा पढ़ती चली गयी. एक-एक कहानी, संस्मरण, बातचीत ने एक लेखक, उपन्यासकार, कहानीकार, फिल्मकार की मानवीय संवेदनाओं ने 'क्यों होता है?' 'किसके लिये होता है?' 'अब क्या होगा?' प्रश्न छोड़े हैं. तलाशने पड़ेंगे अब उत्तर हमें. राजेंद्र सिंह बेदी ऐसे हजारों, लाखों शख्स होंगे, औरतें होंगी, जो जीवन के धुएं पीकर जीते हैं. और अपने बाद भी वो धुएं की लकीरें छोड़ गये हैं. जो रास्ता दिखाते रहेंगे. हम उठते धुओं से ही पहचान जायेंगे कि जिंदा हैं.

बधाई. पूरा अंक एक शोधपरक विशेषांक रहा. पर यदि और भी कथाकारों, साहित्यकारों को शामिल करते तो, विशेषांक और महत्वपूर्ण बन जाता, जिसमें उनकी साहित्यिक यात्रा की पृष्ठभूमि और उजागर होती. उनके ही वक्त के कितने साहित्यकारों ने उन्हें पढ़ा, सुना, व देखा था.

एक कसर रह गयी कि राजेंद्र सिंह बेदी की जन्म तिथि, स्थान व महायात्रा तिथि भी दी जाती तो. . .

0 अपर्णा चतुर्वेदी प्रीता, औरंगाबाद

एक ऐतहासिक दस्तावेज

मुझे बेदी विशेषांक कुछ देर से प्राप्त हुआ. प्रतीक्षा तो काफी समय से थी. पढ़ा और मैं यह बताना तो शायद उचित नहीं समझता हूं कि यह बहुत अच्छा लगा, क्योंकि यह अंक तो अपने आप में पचास वर्षों का साहित्यिक इतिहास समेटे हुए था. वास्तव में यह एक संग्रहणीय ऐतिहासिक दस्तावेज से किसी तरह भी कम नहीं है. धन्यवाद.

पहली बार आपकी पत्रिका में लघुरचनाएं व प्रसंग इस अंक में पढ़ने को मिले. (जब से आपने पत्रिका का कलेवर बदला है) आगे भी यही क्रम बनाये रखें तो अच्छा हो.

उपेंद्रनाथ अश्क का संस्मरण मन को बहुत भाया.

0 रतनलाल रहचंदानी, जोधपुर

पीड़ा नहीं चुकती

राजेंद्र सिंह बेदी विशेषांक अच्छा लगा. वास्तव में कितना मुश्किल होता है अपने जिये हुए क्षणों को ढालना. क्योंकि अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों परस्पर विरोधी स्वभाव के हैं. अनुभूति असीम है तो अभिव्यक्ति सीमित. इन दोनों को समावेशित करना बड़े ही दिल गुर्दे का काम है. कितनी पीड़ा झेलता है कोई रचनाकार. शायद वही पीड़ा उसकी जीवनी शक्ति बन जाती है. उसी पीड़ा को, उसी अनुभूति को, असीम को शब्दों की सीमा देने के प्रयास में रचनाकार स्वयं तो चुक जाता है, क्या पता पीड़ा चुकती है या नहीं. बेदी विशेषांक में भी ऐसा ही कुछ महसूस-सा हुआ.

0 धर्मेंद्र अग्रवाल, कलकत्ता

कुछ कमियां भी हैं

राजेंद्र सिंह बेदी विशेषांक पूर्व के विशेषांकों की भांति ही प्रशंसनीय है. बस एक बात की कमी रह गयी कि विशेषांक में प्रस्तुत कहानियों के लेखन व प्रकाशन वर्ष आपने नहीं दिये और फिर जैसा कि अपनी बात में आपने कहा है कि बेदी की हिंदी में जितनी भी चर्चित कहानियां हैं उनमें से अधिकांश सारिका ने प्रकाशित की हैं, तो आपको उन कहानियों का विवरण देना था. और इस विशेषांक में भी यदि वे कहानियां दी गयी हैं तो उसे भी बताना था और उन दिनों जब ये कहानियां प्रकाशित हुई थीं, तो इसके प्रस्तोता या अनुवादक यही थे, जो इस विशेषांक में हैं? अगर ये विवरण भी होते तो ज्यादा खुशी होती. बेदी की फिल्मों का जायजा ब्रजेश्वर मदान की कलम से अतिशयोक्ति से बिल्कुल परे लगा, सच में आज तक भी अभाव है ऐसे लेखक का जो कहानी के पात्र का मनोविज्ञान समझकर उसको भाषा में विविधता प्रदान कर सके.

0 सुशील अकेला, खगड़िया (बिहार)

एक घरेलू बात समझ में आ गयी

सारिका पिछले तेईस वर्षों से लगातार पढ़ रहा हूं. दो-चार अंकों को छोड़कर (जिन्हें वक्त की मार से बचा नहीं सका) सभी अंक क्रमवार सजाये भी हूं. **रजत जयंती वर्ष** में सारिका जो नयी दृष्टि लेकर आ रही है उसके लिये भी पूरा संपादकीय परिवार धन्यवाद का पात्र है.

इस अंक (**राजेंद्र सिंह बेदी विशेषांक**) को भी पूरा पढ़ डाला है. अंक की श्रेष्ठ रचना '**रहमान के जूते**' लगी. एक छोटी-सी बात के माध्यम से बेदी जी ने जो कहानी रची है, वह उन जैसा कथाकार ही रच सकता है. इस कहानी को पढ़ने के बाद एक बात जो मेरी समझ में नहीं आती थी, (प्रायः पत्नी जब भी कोई चप्पल या जूता एक-दूसरे के ऊपर चढ़ जाते हैं, या उलट जाते हैं, जो बच्चों वाले घर में प्रायः हो जाता है, तो उसे तुरंत सीधा या एक-दूसरे से सटाकर रखने को कहती है) समझ में आ गयी.

'**एक चादर मैली-सी**' कालजयी रचना है. '**कल्याणी**' में जिस औरत की तस्वीर बेदी जी ने प्रस्तुत की है, वह आज भी समाज में है और रहेगी.

'**मुक्तिबोध**', '**लाजवंती**' और '**हज्जाम इलाहाबाद के**' भी काफी सशक्त रचनाएं हैं और इनमें बेदीजी का रचनाकार मुखर रूप में उभरा है.

यह सही है कि **रचनाकार की मौत डबल ट्रेजडी होती है** क्योंकि एक तो उसकी मौत होती ही है पर उसके साथ उन रचनाओं की भी मौत हो जाती है जो अभी आनी शेष रहती हैं.

अश्क जी ने अपने संस्मरण में जिन अनछुए प्रसंगों का जिक्र किया है, वह आंखों को नमियां जाता है.

बेदी जैसा कथाकार कभी मरता नहीं, वह समय के साथ, अपनी उन रचनाओं के साथ बार-बार जी ,उठता है जो उसने दुख-सुख, लोम-संघर्ष के क्षणों में अपने को एकात्म करके लिखी हैं. यह जानकर खुशी हुई कि बेदी जी के कर्जे को फिल्म वित्त निगम ने माफ कर दिया है. उम्मीद यह भी की जानी चाहिए कि '**दस्तक**' जैसी फिल्म के रचयिता की '**आंखन देखी**' फिल्म भी जल्द पर्दे पर आयेगी.

मुखपृष्ठ पर आप बेदी जी की जन्म तिथि और मृत्यु तिथि भी दे देते तो और अच्छा होता.

0 डा. रामकिशोर सिंह, बहादुरपुर (उ.प्र.)

साहित्य नहीं रहेगा तो क्या हम भी बचेंगे?

सारिका अपना रजत जयंती वर्ष कुछ विशिष्ट सामग्री के आधार पर मना रही है. यह विशिष्ट सामग्री कुछ स्थितियों को लेकर भी हो सकती है और कुछ समस्याओं, व्यक्तियों या 'थीम्स' को लेकर भी. हमारे इस प्रयास को सुधी पाठकों ने काफी सराहा है. सारिका के शुभाकांक्षी गोविंद मिश्र ने विशिष्ट सामग्री लेकर प्रस्तुत की जा रही इस योजना के अन्यतम पहलुओं की ओर संकेत करते हुए हमें सचेत भी किया है. (देखें, विचित्र कथा विशेषांक, 1-15 मई, 85) इसीलिए इस संदर्भ में हमने पाठकों की प्रतिक्रिया आमंत्रित की थी. हमें खुशी है कि पाठकों ने इस पर अपनी महत्वपूर्ण प्रतिक्रियाएं भेजीं. उन्हीं में से क्रमशः प्रारंभिक प्रतिक्रियाएं यहां प्रस्तुत हैं. शेष प्रतिक्रियाएं अगले अंक में—

यह तो खुल जा सिमसिम है

सारिका के '**विचित्र कथा विशेषांक**' में भाई **गोविंद मिश्र** का पत्र पढ़ा. मिश्रजी ने सारिका के इन विशेषांकों को बिल्कुल दूसरे परिप्रेक्ष्य में लिया है. उनका कहना वाजिब है कि छपे हुए को क्या छापना. परंतु उनकी यह बात मैं समझता हूं सामान्य पाठक वर्ग पर लागू नहीं होती. पुस्तकों की आकाश चूमती कीमतों को देखते हुए कितने लोग होंगे, जो मनचाही या कोई विशिष्ट पुस्तक खरीद पाते होंगे. हमारे लेखक बंधुओं तथा साहित्य सृजन से किसी भी रूप में जो जुड़े हैं, उनके लिए तो पुस्तकों की कोई कमी नहीं है, मेरा संकेत आभिजात्य वर्ग की ओर भी है जिनके लिए पुस्तकें महज ड्राइंग रूम के शोपीस के रूप में काम करती हैं, लेकिन उन पाठकों का क्या कहिए या उस जनमानस का क्या कहिए जिन्हें श्रेष्ठ कृतियों का परिचय पत्र-पत्रिकाओं से ही मिलता है? ऐसे में विशिष्ट थीम्स या विशिष्ट स्थितियों को लेकर लिखी गयी और लिखी जा रही रचनाओं को एक मंच प्रदान करना क्या अपने आप में सामान्य पाठक वर्ग के लिए 'खुल जा सिमसिम' जैसा वरदान सिद्ध नहीं हो सकता? ऐसे पाठकों की संख्या मैं समझता हूं पुस्तकों के पाठकों की संख्या से कहीं ज्यादा होती है. ऐसी स्थिति में सारिका के माध्यम से विशिष्ट कृतियों का उपहार मिलना कोई अनुचित बात तो नहीं है. बल्कि यह तो साधारण पाठक वर्ग को सुसंस्कृत बनाने का एक पवित्र कर्म है.

कितने लोगों ने **काफ्का, आस्कर वाइल्ड, सार्त्र, हेमिंग्वे, एडगर एलन पो** को या **मास्ति व्यंकटेश आयंगार** को या **ताराशंकर बंद्योपाध्याय** आदि लेखकों की अमर कृतियों को पढ़ा होगा? मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि हमारे लेखक बंधुओं में से भी ज्यादातर बड़े-बड़े नाम उछालने वाले ही मिलेंगे. पुरस्कृत कृतियां भी कितने लोगों तक पहुंच पाती हैं. यह संभवतः पहली बार हुआ है कि किसी पत्रिका ने सुनियोजित ढंग से कुछ विषयों, स्थितियों और समस्याओं को लेकर लिखी गयी चिरजीवी कृतियों को एक मंच प्रदान किया है और जनमानस से ये रचनाएं ही नहीं रचनाकार भी जुड़े हैं. इसका प्रमाण है सारिका के **ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता कथाकार विशेषांकों** को मिली सामान्य पाठक वर्ग की सार्वजनिक स्वीकृति और सराहना.

0 सुरेंद्र अरोड़ा, दिल्ली

चिंता अपने कामुओं की

सारिका अपना रजत जयंती वर्ष विशिष्ट सामग्री को लेकर मना रही है. यह सामग्री हमारी संस्कृति, संस्कार व पर्यावरण के इर्द-गिर्द की थीम्स या समस्याओं पर आधारित रहती तो सुखद आभास होता. देशी धरती पर विदेशी ढंग से पर्व मनाना हुड़दंग से अधिक माने नहीं रखता. आज नयी पीढ़ी पहचान बना पाने के जिन अवसरों के निकट है वे अवसर अन्यों पर लुटा देना नृशंसता है.

0 सत्यनारायण साहू, मंदसौर (म.प्र.)

मंच की सहजता कब तक है?

किसी भी पत्रिका के लिये विशेषांक सचमुच एक अच्छी सामग्री देते हैं, लेकिन कब तक आप आलू-आलू अथवा अंगूर-अंगूर ही खाते रहेंगे, अजीर्ण हो जायेगा सब, और फिर ये सब उपहार में हों तो इस अजीर्णता के साथ एक अलग तरह की वेदना जुड़ जाती है. और वो वेदना ये होती है कि ये उपहार सहजता को मारते तो नहीं हैं, चोटिल करने का प्रयास अवश्य करते हैं.

सचमुच देखा जाये तो सारिका के रजत जयंती वर्ष में जो अंक लगातार और धड़ाधड़ निकल रहे हैं वे सारिका के सारिका होने की सहजता पर चोट ही कर रहे हैं. पिछले नौ अंकों में से सिर्फ '**सत्ता संघर्ष कथा अंक**' और '**बेदी विशेषांक**' ही ऐसे अंक रहे जो सारिका के विशेषांक लगे, बाकी के अंकों को पाट दिया गया विदेशी कथाओं, उपन्यासों से और किताबों के रूपांतरों से.

गोविंद जी ने ठीक ही कहा है "जिन्हें कामू, हेमिंग्वे पढ़ना है, वे तो ढूंढ़कर पढ़ ही लेंगे, हम अपनी जमीन के कामू और हेमिंग्वे बनाने में मदद क्यों न करें." इसके लिए सारिका का सहजता से एक कथा मंच बने रहना जरूरी है जैसा आप मानते भी हैं.

0 अशोक कुलवानी, रीवा

एक समस्या आदिवासी इलाकों की भी

गोविंद मिश्र के पूर्वाग्रहग्रसित उद्गारों से **सारिका** का एक जागरूक पाठक होने के नाते मेरी भावनाओं को गहरा आघात लगा है. विदेशी साहित्यकारों की रचनाओं के प्रकाशन को दासता निरूपित करना उतना ही हास्यास्पद है जितना कि दासता के विरुद्ध अनेक ग्रंथों की रचना के बाद भी अरस्तू का यह कहना कि उसकी जाति विशेष युद्ध में पराजित होने पर भी दास नहीं बनायी जाएगी, क्योंकि वे शासन के लिए ही पैदा हुए हैं. मेरी उम्र मात्र 37 वर्ष है और मैं 1968 से अच्छी प्रकार से सारिका से जुड़ा हूं. प्रथम बार भोपाल में मुझे सारिका पढ़ने को मिली. आज मैं एक आदिवासी जिले मंडला की डिंडोरी तहसील में पदस्थ हूं और यहां भी सारिका नियमित रूप से मंगाता हूं. एक पाठक होने के नाते मुझे सारिका से सभी कुछ पाने की आकांक्षा रखना स्वाभाविक है. गोविंद मिश्र यह नहीं बता सकते कि दूरस्थ आदिवासी क्षेत्र के मुझ-से जागरूक पाठक कामू व हेमिंग्वे को पढ़ने के लिए उसे क्या इतनी सहजता से ढूंढ़ पाएंगे?

साहित्य को खरीद-फरोख्त और पत्रिका के नफा-नुकसान से जोड़कर जो कुछ भी उन्होंने कहने का प्रयत्न किया है वह भी यथार्थ से परे खयाली पुलाव जैसा ही है. मैं स्वयं श्रमजीवी पत्रकार के रूप में वर्षों कार्यरत रहा हूं. यह एक कड़वा सत्य है कि आज कोई भी पत्रिका बिना विज्ञापन के चलाना असंभव है. पत्रिका की कीमत और बिक्री की राशि से लागत का कोई आंकड़ा नहीं बैठता. सारिका ने अपने रजत जयंती वर्ष के उपलक्ष्य में जो नया प्रयास किया है वह पाठकों की रुचि विभिन्नता आदि के परिप्रेक्ष्य में एक सराहनीय प्रयास है. प्रकाशक को चाहिए कि वह अपनी पत्रिका के माध्यम से अधिकाधिक पाठकों की रुचियों के अनुरूप सामग्री देकर पत्रिका को पाठकों की पत्रिका बनाए. और यह सब कमोबेश सारिका के साथ चला आ रहा है. इसी कारण आज इसका अपना एक अलग अस्तित्व है. भाई गोविंद मिश्र की व्यथा तो ठीक है किंतु सारिका के मत्थे सारा दोष मढ़ना गलत है. मौजूदा व्यवस्था को साहित्य की खरीद-फरोख्त के नाम पर कोसना ठीक नहीं है. वे स्वयं इस व्यवस्था के एक आवश्यक अंग हैं. दुःख इस बात का है कि उन्होंने जो कुछ भी कहा है और अपेक्षा की है उसकी प्राप्ति या पूर्ति के लिए यदि वे कुछ रचनात्मक रूप से कर गुजरते तो उनका नाम भी होता और उनकी व्यथा को एक सही प्लेटफार्म मिलता. जिससे नवलेखन को नयी राह भी मिलती.

0 उमेश कुमार पांडे, डिंडोरी (म. प्र.)

अपरिचित संस्कृति का परिचय क्यों?

गोविंद मिश्र का पत्र पढ़ा. पढ़कर प्रसन्नता हुई कि आप अपनी आलोचना भी इतनी बेबाक तरीके से छापते हैं. मैं सारिका का पुराना पाठक हूं. आपने इस पत्र के विषय में पाठकों की प्रतिक्रियायें आमंत्रित की हैं. मैं भाई गोविंद मिश्र के कथन से पूर्णतया सहमत हूं. यह एक सत्य है कि आजकल आपकी पत्रिका भारतीय लेखकों की कुछ उपेक्षा कर रही है तथा विदेशी लेखकों को आप अपनी पत्रिका में अधिक स्थान दे रहे हैं. यह बात भी सही है कि जिन्हें कामू व हेमिंग्वे को पढ़ना है वे तो कहीं न कहीं से पढ़ लेंगे. असली साहित्य वही है जो आजकल के समाज को प्रतिबिंबित करे. हम विदेशी संस्कृति से उतने परिचित नहीं हैं जितने कि अपनी भारतीय संस्कृति से. अतः जितना आनंद हमें अपनी संस्कृति की समस्याओं को पढ़ने, समझने व सुलझाने में आता है उतना विदेशी संस्कृति में नहीं. मैं यह नहीं कहता कि आप विदेशी कहानियां बिलकुल न छापें बल्कि आप प्रत्येक अंक में एक या दो विदेशी कहानी छाप सकते हैं.

अब रही बात पुरानी प्रसिद्ध कहानियों को छापने की, वह आप अवश्य छापें लेकिन केवल एक या दो. आपने लिखा है कि सारिका अपना रजत जयंती वर्ष कुछ विशिष्ट सामग्री के आधार पर मना रही है. क्या ये सामग्री केवल विदेशी साहित्य में ही उपलब्ध है, भारतीय साहित्य में नहीं? आपको समकालीन स्तरीय साहित्य को अवश्य छापना चाहिए.

o अमित कौशिक, मेरठ

रचनाकार अंतर्राष्ट्रीय होता है

गोविंद मिश्र ने अपने लंबे पत्र में 'सारिका' के स्तर के उतार-चढ़ाव पर खेद व्यक्त करने के अतिरिक्त दो मुद्दे उठाये हैं जो विचारणीय हैं—पहला यह कि पत्रिका ख्याति प्राप्त साहित्य को प्रकाशित कर साहित्य को प्रोत्साहन के स्थान पर अपनी या प्रतिष्ठान की छवि निखारने में रत रही है; यह मेरी राय में सही एवं वस्तुपरक विश्लेषण है. आरंभ से ही टाइम्स ऑफ इंडिया जब-तब साहित्यिक आयोजनों के माध्यम से ऐसा करता आ रहा है.

श्री मिश्र के दूसरे मुद्दे से मैं सहमत नहीं हूं. स्तरीय साहित्यकार पैदा होते हैं, बनाये नहीं जाते—उचित वातावरण देने का जहां तक प्रश्न है 'सारिका' जितना कर सकती है, करती आ रही है. एक ओर जहां श्री मिश्र खिन्न हैं कि स्तरीय लेखनवाली पत्रिकाओं के दुर्लभ (?) होने से "हमारे नौजवान संवाददाताओं की समझ भी पैनी नहीं हो सकी." वहीं दूसरी ओर कामू, हेमिंग्वे आदि पाश्चात्य साहित्यकारों के संपादकीय चयन से क्षुब्ध भी. ये बातें द्विअर्थी लगती हैं.

"जिन्हें कामू, हेमिंग्वे पढ़ना है. . .वे तो ढूंढ़कर पढ़ लेंगे. . ." लेकिन मैं पूछता हूं कहां, व क्या ये हिंदी में सस्ते मूल्य पर उपलब्ध हैं? उल्लेखनीय है कि स्वर्गीय बनारसीदास चतुर्वेदी ने भी एक साक्षात्कार के दौरान हिंदी प्रेमियों को सलाह दी थी कि वे देशी सामग्री पढ़ने के अतिरिक्त विदेशी साहित्य को भी उतना ही महत्व दें क्योंकि रचनाकार का अस्तित्व ही अंतर्राष्ट्रीय होता है. हिंदी में यदि 'सारिका' देशी साहित्यकारों के साथ-साथ काफ्का, आस्कर वाइल्ड, पर्ल एस. बक, वेल्स, खलील जिब्रान प्रभृति साहित्यकारों को भी प्रकाशित करती है तो इसमें बुराई क्या है? हमें विदेशी साहित्यकारों से इतनी चिढ़ क्यों है? क्या 'हिंदी साहित्य' के देशी द्वीप में अज्ञातवास करना ही हमारी नियति है! मेरी क्षुद्र सम्मति में साहित्य का संवर्धन प्रत्यक्ष व अपरोक्ष रूप में होता है, और अपने आंतरिक बल से 'सारिका' परोक्ष रूपेण यह कार्य बहुत अधिक कर रही है.

o तारिक वली, नयी दिल्ली

तस्वीर बोलती है

सारिका—अंक : 369

पुरस्कार विजेताओं को बधाई

प्रथम पुरस्कार : 50 रुपये

कारवां लेकर चला था
जानिबे मंजिल मगर
सब जुदा होते गये
और मैं अकेला रह गया

—विवेक सक्सेना

▣ हेमा पंत, द्वारा : श्री हरीश चंद्र पंत, ग्राम गोजाजाली, पुरानी आई. आई. टी., बरेली रोड, हल्द्वानी, जिला—नैनीताल (उ.प्र.)

द्वितीय पुरस्कार : 30 रुपये

अब तलक था नूर मुझमें हमसफर थे आप सब
वक्त क्या बदला कि अपने भी नहीं पहचानते.

▣ सुदेश बाघमारे, 224 अशोका गार्डन, भोपाल-23 (म. प्र.)

तृतीय पुरस्कार : 20 रुपये

आस्था को लेकर
पेट भर रोटी मिले
बस यही अरमान लेकर
जी रहा है आदमी

सड़क से पगडंडियों तक
देखकर लौटा हूं मैं
अपने-अपने अहम् लेकर
जी रहा है आदमी.

—अश्विनी पाराशर

▣ अनुज रस्तोगी, द्वारा : श्री आर. सी. मल्होत्रा, आर्यसमाज मंदिर के पास, कोटा-2

प्रशंसित शीर्षक

जुल्फ, अंगड़ाई, तबस्सुम, चांद, आईना, गुलाब
भुखमरी के मोर्चे पर ढल गया इनका शबाब
पेट के भूगोल में उलझा हुआ है आदमी
इस अहद में किसको फुर्सत है पढ़े दिल की किताब

—अदम

▣ इकबाल रिजवी, बरेली

अपनी आंखों से ही दुनिया
देखना काफी नहीं
सबकी आंखें अपनी आंखों
से मिलाकर देखिए.

—निरंकार देव सेवक

▣ उमेश बतरा 'यायावर', जयपुर

बैठे हैं रास्ते में बयाबां-ए-दिल सजाकर
शायद इसी तरफ से इक दिन बहार गुजरे.

—मीना कुमारी

▣ चंदन यादव, हरदा (म.प्र.) □

प्रथम पुरस्कार विजेता कहानी

खंडहर

बनवारी लाल नेहरा

डाक्टर नरेश ने खिड़की से दृष्टि हटायी तो देखा कि प्रकोष्ठ के प्रवेश द्वार पर कल्पना शॉल लिये खड़ी है.

इस घर का स्वामित्व संभाले कल्पना को बीस वर्ष हो गये थे. उसके व्यक्तित्व में न जाने ऐसी कौन-सी विशेषता थी कि डाक्टर के नत-नयन उसके सम्मुख कभी ऊपर नहीं उठे थे. आज उन्होंने पहली बार उस गौरवमयी कल्पना के चेहरे को ध्यानपूर्वक देखा. बहुत निष्कलंक संबंध था वह, जहां न वासना की बू थी, न स्वार्थ की गंध.

डाक्टर को अहसास हुआ जैसे कल्पना आज कुछ थक-सी गयी है. उन्होंने उसे नख से शिख तक निहारा. कुम्हलाये हुए बदन को देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो हरी-भरी लता को गूंथ दिया गया है. सदैव व्यवस्थित रहने वाले केश अस्त-व्यस्त पीठ पर बिखरे पड़े थे. चेहरे पर उदासी के साथ व्याप्त हल्की कालिमा और गालों के हल्के गड्ढे उसकी श्रांतावस्था का आभास करा रहे थे. कुछ विचलित से हो उठे डाक्टर. अपनी बेचैनी मिटाने के लिए कल्पना से कहा, "आज ठंड कुछ अधिक है या मुझे ही लग रही है?"

"अभी तो शरद ऋतु का आरंभ है." कल्पना ने कहा.

"लगता है कहीं बरसात हुई है, तभी हवा में इतनी शीतलता है." डाक्टर बाहर चल रही हवा को देख रहे थे.

"शिमला में जब कभी हिमपात होता है तो उसका प्रभाव यहां तक पहुंच जाता है."

डाक्टर चुपचाप बाहर देखते रहे मानो इस उत्तरी हवा का सूक्ष्म परीक्षण कर रहे हों. फिर उन्हें जैसे कुछ ध्यान आया. आंखें उठाकर कल्पना पर दृष्टि डाली मानो उसकी वेदना की थाह लेने का प्रयास कर रहे हों, जैसे उस मुख की खोयी हुई आभा को तलाश रहे हों.

और कल्पना?

वह कदाचित उनकी मनःस्थिति को पहचान गयी. वह बलपूर्वक थोड़ी-सी मुस्करायी. फिर डाक्टर को शाल थमाकर अपने पीछे दरवाजा बंद करती हुई चली गयी.

प्रकोष्ठ में कुछ देर तक निस्तब्धता छायी रही. फिर दुर्ग के मंदिर से घंटियों का स्वर आने लगा. अपने इर्द-गिर्द डाक्टर को शून्यता-सी महसूस हुई. उन्हें लगा जैसे उनकी धमनियों में बर्फ घुलती जा रही है और रक्त का आवेग प्रतिपल घटता जा रहा है.

बेचैनी मिटाने के लिए वह फिर खिड़की से बाहर देखने लगे. सड़क पर वाहनों की कोई विशेष भीड़ नहीं थी. किंतु स्त्री-पुरुषों के झुंड सड़क पर सांध्य-भ्रमण करने में व्यस्त थे और नदी की ओर बढ़ते चले जाते थे. इस भीड़ से हटकर डाक्टर की इच्छा हुई कि वह कल्पना से जाकर उसकी मनःस्थिति का पता लगायें. आज वाली अपमानजनक घटना से न जाने, उसके दिल पर क्या गुजरी होगी? चाहते हुए भी वह खिड़की से नहीं हट सके. सामने चित्तौड़ का अडिग दुर्ग अपना मस्तक उठाये खड़ा था. उसकी चाहरदीवारी आज भी वैसे ही अटल एवं दृढ़ थी जैसे कि हजारों वर्ष पूर्व होगी. किंतु हजारों साल पूर्व दुर्ग के भीतर जो भव्य भवन थे आज उनके भग्नावशेष ही रह गये हैं.

सांझ ढल चुकी है. सड़क के किनारे बिजली के खंभों पर अटकायी बत्तियां जलने लगी हैं. दुर्ग के मंदिर में प्रकाश स्पष्ट दिखाई देने लगा है. हल्की-हल्की वायु शीत को संग लिये प्रकोष्ठ में प्रविष्ट होने लगी है. डाक्टर ने शाल कंधों पर फैलाकर पूरी तरह से लपेट लिया. शीत के कारण खिड़की बंद करके डाक्टर को अध्ययन-टेबल पर आ बैठना पड़ा.

लाख प्रयत्न करने पर भी उनके मस्तिष्क की विह्वलता कम नहीं हुई. पुस्तकों के पन्ने पलटते रहे परंतु अक्षरों की दशा तो दिन में विद्यमान आकाश के तारों जैसी थी.

वह कुर्सी से पीठ टिकाकर बैठे तो आज वाली घटना नये सिरे से करवटें बदलने लगी. उन्होंने आंखें मूंद लीं. अधिस्नातक की उपाधि ग्रहण करने के उपरांत रोहिताश को बैंक-मैनेजर की नौकरी मिल गयी थी. जबकि प्रेमा स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण कर घर पर ही रहकर घर के कामकाज में कल्पना का हाथ बंटाने लगी. कल्पना ने उससे आगे पढ़ने के लिए आग्रह किया तो वह बोली, "बहुत पढ़ चुकी अम्मा, पढ़ते-पढ़ते दरअसल थक गयी. अब तो अपनी अम्मा की सेवा करूंगी."

"सेवा के लिए तो अभी बहुत दिन हैं. यह उम्र तो पढ़ने-लिखने की ही है." कल्पना ने मुस्कराकर कहा.

"अब मैं बच्ची थोड़े ही हूं अम्मा. जाने फिर तुम्हारे पास रहने के लिए समय मिलेगा भी कि नहीं."

फिर कल्पना ने उसे कुछ नहीं कहा. उसे लगा जैसे उसकी आशाओं का दीपक प्रज्वलित होकर आलोक बिखेर रहा है, मानो वह आलोक उसके अंतर में उतरता जा रहा है और उसका रोम-रोम जगमगा उठा है. बस अब तो रोहिताश का विवाह हो जाये. बहू को घर में देखने की उत्कट अभिलाषा थी कल्पना की, किंतु क्यों होता है

जिंदगी में घटित होने वाले वे कौन से हादसे होते हैं जो सीधी-सादी चली आ रही जिंदगी को सहसा बदलकर रख देते हैं? कैसे होते हैं ये हादसे . . . और इनका प्रभाव जो लंबे समय तक परेशान किये रहता है . . .

यदा-कदा ऐसा कि मनुष्य की उत्कट अभिलाषा ही विष बनकर उसके जीवन में पसर जाती है, उसे आहत कर देती है.

जिस बहू को घर में देखने का सपना मन में संजोये थी, वह जब सचमुच साकार हुआ तो आगे के सपनों के पूरा होने की उम्मीद जाती रही. जैसे आकाश को खाली निगाहों से ताकते-ताकते किसान को बाढ़ की परिस्थिति का सामना करना पड़ जाता है. महीना भर भी नहीं हुआ बहू को आये और उसके व्यवहार में अभी से इतनी कटुता सम्मिलित हो गयी. वह आज पड़ोस वाली कमला के पास चली गयी थी और वापस आते ही जब कल्पना ने उससे पूछा, "बहू, किधर चली गयी थी" तो वह उस पर बरस पड़ी, "बाहर जाने की मनाही है क्या? घर में अकेले पड़े-पड़े दम घुट जाता है."

उसका उत्तर सुनकर कल्पना उत्तेजित नहीं हुई अपितु स्थिति को संभालते हुए शांत स्वर में बोली, "घूम-फिर आया करो बहू. अभी तुमने किला भी नहीं देखा. रविवार को रोहिताश को लेकर वहां जरूर हो आना. राजस्थान के दर्शनीय स्थलों में इस दुर्ग का अपना विशेष महत्त्व है."

"आप क्यों परामर्श देती है, मुझे देखना होगा तो अपने-आप चली जाऊंगी. आपको मध्यस्थ बनने की कोई आवश्यकता नहीं." संध्या की आंखें लाल हो आयी थी.

कल्पना को उसके स्वर की ऊष्णता का भान हुआ तो वह रूखे मन से बोली, "अच्छा बहू, जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो."

"तुम्हें अधिकार भी क्या है मुझे सलाह देने का. मेरा अपना घर है, जैसा जी में आयेगा वैसा करूंगी." इस बार संध्या का स्वर अत्यधिक कठोर था.

कल्पना को धक्का-सा लगा. क्या इस घर में उसका कुछ भी नहीं है. ठीक ही तो कह रही है संध्या, इन लोगों से उसका कुछ भी तो संबंध नहीं है. वह तो एक अजनबी है और एक अनाथ की तरह इस घर में रह रही है. इसलिए कि उसका अपना कोई नहीं है. बचपन में मां मर गयी थी और जब वह दसवीं में पढ़ा करती थी तब हृदयरोग से ग्रस्त उसके पिताजी भी इस संसार से सारे नाते-रिश्ते तोड़कर चल बसे थे. उसके दो भाई थे किंतु विवाह के बाद उनके घर की घिराणियां आ गयीं थीं और वे भाई भी उसके लिए पराये हो गये थे. वह तो अकेली है, किसी से कोई जुड़ाव नहीं. और फिर जिनसे जुड़ने का प्रयत्न कर रही थी, वे स्वयं उससे जुड़ना नहीं चाहते थे. वह कौन होती है जबरदस्ती करनेवाली!

संध्या की चढ़ी त्योरियों को देख उसे अपने आप पर क्रोध आया और इस क्रोध की परिणति हुई आत्म-ग्लानि में. हां, उसे कोई अधिकार नहीं है. अब इस घर की वास्तविक स्वामिनी आ गयी है. अतः उसे अपनी हैसियत की सीमित परिधि में रहना चाहिए. भले ही इसके लिए उसे सिकुड़ना पड़े. क्षुब्ध मन से उसके भारी कदम दूसरे प्रकोष्ठ की ओर बढ़े ही थे कि प्रेमा आ गयी. वह अब तक रसोईघर में थी और जंगले के समीप खड़ी उनकी बातें सुन रही थी.

"कहां चली अम्मा?" प्रेमा ने कल्पना को रोका.

"तू कुछ न कहना बहू को." कल्पना डबडबाये नेत्रों से उसे देखते हुए बोली.

प्रेमा मुस्करायी, "बोलूंगी कैसे नहीं अम्मा! जिसने इस घर को बसाया, उसे इस घर में बोलने तक का अधिकार नहीं."

"क्या हो गया तुम्हें बेटी? बहू अभी बच्ची है."

"बच्ची है तो व्यवहार बच्चों जैसा क्यों नहीं." प्रेमा ने एक लंबी सांस खींची, "जानती हो भाभी, जिसका तुमने तिरस्कार किया है वह इस घर की वह कांति है जिससे यह घर जगमगा रहा है."

"एक नौकरानी के लिए तुम मेरा अपमान कर रही हो प्रेमा." संध्या के माथे पर बल पड़ गये.

"भाभी, बोलने से पहले सोच तो लिया होता." प्रेमा ने आग्नेय नेत्रों से संध्या की तरफ देखा.

"मैंने कुछ झूठ तो कहा नहीं." संध्या के स्वर में व्यंग्य का आभास था.

"अपने पतिदेव की अम्मा को नौकरानी कहते तुम्हें बिल्कुल भी शर्म नहीं आयी?"

"एक बदनाम और चरित्रहीन महिला मेरे पति की मां कभी नहीं हो सकती."

कल्पना का सिर चकरा गया. तब यदि वह दूसरे प्रकोष्ठ में नहीं चली आयी होती तो सचमुच चक्कर खाकर गिर गयी होती. उसे लगा मानो इतना अधिक जाड़ा पड़ा है कि ठंड के मारे गृह-वाटिका के सारे पेड़-पौधे सूख गये हैं और उन पर दिन-रात कलरव करते पक्षी एक-एक करके फुर्र-फुर्र उड़ते जा रहे हैं अन्य उद्यानों की ओर . . क्या कभी वे लौटकर भी आयेंगे?

उसे कुछ पता नहीं चला कि संध्या ने आगे क्या कहा और प्रेमा ने प्रत्युत्तर में कुछ कहा भी कि नहीं. उसका तन-बदन जल उठा. इच्छा हुई, अभी यह घर छोड़कर चली जाये. क्यों किसी घर की शांति भंग करती है? और फिर ऐसी परिस्थिति में यहां रहना भी तो ठीक नहीं है.

इसी उथल-पुथल के बीच अनजाने में ही उसका ध्यान द्वार की तरफ खिंच गया. वहां कोई खड़ा था. फिर उसकी आंखों के आगे फैली धुंध हटी तो देखा कि प्रेमा अश्रुपूरित नेत्रों से उसे देख रही है. अभी वह कुछ बोलना ही चाह रही थी कि प्रेमा सिसक-सिसककर रो पड़ी और दौड़कर उसकी गोद में मुंह छिपा लिया. कल्पना ने उसे छाती से लगाया और साड़ी के पल्लू से उसके आंसू पोंछकर बोली, "रोती क्यों है बेटी?"

"यह मेरी भाभी नहीं अम्मा. इस घर में डायन आ गयी है. हम सबको. जिंदा चबा जाएगी."

"ऐसा नहीं बोलते पगली!" कल्पना ने अपने-आपको संभाला, फिर संयत स्वर में बोली, "तुम्हारी भाभी को किसी ने बहका दिया."

"इस एक महीने में अपनी आंखों से जो कुछ देखा उसकी अवहेलना कर पलभर की बातों से किसी के बहकावे में आ जानेवाला आदमी थोड़े ही होता है."

कल्पना ने स्नेह से प्रेमा की आंखों पर ठहरे अश्रु पोंछे, माथे पर बिखर आयी लटों को ठीक किया और उसके बालों में धीरे-धीरे अंगुलियां फिराने लगी. उसके अनुराग से अभिभूत होकर प्रेमा उसके वक्ष से लिपट गयी. जिस नन्हें-से पादप को कल्पना ने अपने रक्त से सींचा था और जिसकी हर पंखुड़ी को खिलते हुए देखा था, एक झंझा से जब उसे झुलसते हुए देखा तो उसका रोम-रोम जल उठा.

डाक्टर ऊपर के बरामदे में खड़े यह सब देख रहे थे. कुछ भी नहीं बोले वह. सिर्फ सोच रहे थे, क्या घर में बहू का आगमन मतभेद और कलह की दीवारें खड़ी करके वातावरण को दूषित करने से जुड़ा हुआ है. फिर तो यही अच्छा रहता कि रोहिताश का विवाह ही नहीं किया जाता. बहुधा लोग कहते है, विवाह द्वारा नया घर बसाया जाता है. पर यह क्या सिर्फ सैद्धांतिक मान्यता ही है!

डाक्टर कुछ हिले. कुर्सी पर एक अवस्था में बैठे रहने से सारी की सारी मांसपेशियां अकड़ गयी थीं. हिल-डुल लेने के बाद कुछ सहूलियत-सी महसूस हुई. फिर वही सिलसिला आरंभ. . .क्या पता होगा बेचारी कल्पना को इन बातों का? वह क्या जानती होगी बहू की रीत को! जीवन का वह हिस्सा स्वयं का भोगा हुआ होता तो बहुत सहज होता बहू के आचरण का पूर्वानुमान लगा लेना किंतु उसे तो कभी किसी घर की चौखट पर बहू बनकर पांव रखने का सौभाग्य प्राप्त ही नहीं हुआ. ऐसी परिस्थिति में वह उस अपमान के घूंट को कहां तक पी सकी होगी? संध्या के उस कटु वाक्य ने तो उसके तन-बदन को चीरकर ही रख दिया होगा. उससे कहा भी कैसे गया कि जिस घर में कल्पना का साया भी होगा वह उस घर में नहीं रह सकती.

"प्रणाम पिताजी!" तभी डाक्टर को चिर-परिचित स्वर सुनायी दिया. यह रोहिताश था जो बगल में फाइलों का बंडल दबाये अभी-अभी बैंक से लौटा था.

"आशीर्वाद बेटे!" डाक्टर ने जैसे सोते-से जागते हुए कहा. फाइलें रखकर रोहिताश जाने लगा तो डाक्टर ने पुकारकर उसे रोक लिया.

"क्या बात है पिताजी?"

"बेटे! हमें बहू से ऐसी आशा न थी." डाक्टर का भारी स्वर सुनकर रोहिताश चौंक-सा गया. वह कुछ समझ नहीं सका और भावशून्य-सा डाक्टर की आंखों में झांकने लगा मानो उनके मनोभावों को पढ़ने का प्रयास कर रहा हो.

डाक्टर अपने स्थान से उठकर उसके समीप चले आये और उसके कंधे पर अपना हाथ रखते हुए बोले, "बहू ने आज कल्पना को अपमानित किया है."

"क्या?" रोहिताश विस्मित-सा डाक्टर के चेहरे को देखता रह गया.

"हां, बेटे, बहू ने उसके साथ गाली-गलौज तक की है." डाक्टर की आंखों में नमी-सी छा गयी.

"आप तो बेकार में मूड खराब करते है पिताजी. आखिर कौन-सा घर ऐसा है जहां पूर्ण शांति हो. सास-बहू का झगड़ा तो घर-घर की कहानी है."

तब डाक्टर को लगा जैसे उनके चारों तरफ काली-पीली आंधी उठ रही है. मरुस्थलीय क्षेत्रों में जब यह आंधी उमड़ती है तो हाथ को हाथ सुझाई नहीं देता. सड़कें रेत से भर जाती हैं. सब कुछ वैसा ही था.

"तुम ठीक कहते हो बेटे. मैं ठहरा बूढ़ा, सठिया गया था. सचमुच ऐसा तो हर घर में होता है. भला अकेले अपने ही घर में स्वर्ग-सम शांति कैसे रह सकती है."

रोहिताश चला गया. डाक्टर दो कदम बढ़ाकर धम्म-से सोफे पर गिर गये.

क्षणभर के लिए उनकी पलकें झपक गयीं. मरुस्थल में मृग-तृष्णा के शिकार होकर हिरणों के झुंड के झुंड जल की तलाश में भागे जा रहे हैं. उनके भागने का क्रम किसी आशा के सहारे जारी है.

डाक्टर ने चुपचाप जेब से पैकेट निकाल लिया और सिगरेट सुलगाकर कश पर कश लगाने लगे. उनकी इच्छा हुई कि चलकर गंभीरी के पुल पर खड़े हो जायें और कल-कल का स्वर सुनें. अभी वर्षा ऋतु समाप्त हुए माह भर ही हुआ है. इसलिए गंभीरी में पानी की मात्रा पर्याप्त है. पर अभी तो सूर्यास्त हुए कुछ ही देर हुई है. अभी तो लोगों की गहमागहमी होगी. यह तो अकेलेपन का आनंद है.

अचानक डाक्टर को कुछ याद आया. वह उठे और मेज की दराज से अलबम ले आये. अलबम के पहले ही पृष्ठ पर उनका पत्नी के साथ ऐन फेरों के समय का छायाचित्र था. और तब एक क्षण के लिए रोमांचित हो उठे डाक्टर. मानो यौवन के वे स्वप्निल दिन एक बार फिर लौट

आये हैं. पन्ने पर पन्ने... उनका स्वयं का, पत्नी, प्रेमा और रोहिताश का और यहां तक कि संध्या के छायाचित्र थे परंतु कल्पना... कल्पना का तो एक भी चित्र नहीं. उसे बीस वर्ष हो गये इस घर में रहते, इसका पोषण करते. इस घर की लाज को उसने अपने आंचल में समेटकर सुरक्षित रखा है.

स्मरण हो आया डाक्टर को—कल्पना का अस्पताल में वह प्रथम दिन, किसी की आंखों की शल्य-चिकित्सा और तब उनकी दृष्टि टिक गयी थी कि उन्हीं मोटी-मोटी चमकदार आंखों पर. उन्होंने रोगी के नेत्रों से तुलना की थी उन आंखों की. फूल-सा खिला मुखड़ा, चिकना-उभरा ललाट और पीठ पर फैले सुनहरे बाल—तब डाक्टर को लगा था जैसे कोई सौंदर्य की देवी उनके सामने खड़ी है. उसकी उन गहरी आंखों में अजीब-सा भोलापन था. वह भौचक्के-से एकटक उसे देखते रह गये थे.

कल्पना एक भोली-भाली लड़की थी. विवशता के थपेड़ों से वह एक दिन नर्स बन गयी थी. वह एक विचित्र लड़की थी जिसने न तो कभी किसी से प्यार पाया था, न कभी किसी को प्यार दिया था. दुःख के ताप से प्यार का समुद्र सूख-सा गया था. हां उसके पास केवल एक अनुभूति थी कि उसने प्रत्येक के दुःख-दर्द को सुना और उसे दूर करने का भरसक प्रयत्न किया.

उन्हीं दिनों डाक्टर नरेश की पत्नी बीमार हो गयी. उसे अस्पताल लाया गया. कल्पना की नियुक्ति बहुधा उसी कक्ष में होती थी जिस कक्ष में रीता भर्ती थी.

उस दिन आकाश में बादल छाये हुए थे जो धीरे-धीरे रौद्र रूप धारण करते जा रहे थे. कल्पना रीता के बिस्तर के निकट चली आयी और समीप ही स्टूल पर बैठ गयी. बाहर वर्षा आरंभ हो गयी थी. सांय-सांय करती तीव्र वायु के संग उड़ता पानी चिकित्सालय की दीवारों से टकरा-टकराकर विचित्र सी सीटियों की ध्वनि छोड़ता जा रहा था. सर्दी से बचाव के लिए कल्पना ने दो कंबलों की तहें कर रीता को उढ़ा दिया.

"बहिन! क्या मैं बच जाऊंगी?" रीता ने क्षीण स्वर में फुसफुसाते हुए कल्पना की ओर देखा.

"आप चिंता न करें, कुछ ही दिनों में बिल्कुल स्वस्थ हो जायेंगी." कल्पना ने उसे जताना चाहा जैसे उसे कुछ हुआ ही नहीं हो.

"यदि मैं बच नहीं पायी तो मेरे छोटे-छोटे बच्चों का क्या होगा?" रीता का स्वर वेदना से आहत था.

"न तो आपका कुछ बिगड़ेगा, न ही आपके बच्चों का." कल्पना मुस्करायी, "आप निश्चिंत रहिये."

"मुझे विश्वास नहीं होता बहिन." उसकी वाणी दर्द लेकर उमड़ी, "यदि मैं मर जाऊं तो एक काम करना बहिन."

कल्पना ने उसे देखा. उसके पीले मुर्झाये मुख पर आशा की झलक थी. कल्पना को लगा मानो उसे मृत्यु का पूर्वाभास हो गया हो, जैसे उसके मुख-मंडल की वह मुस्कान मृत्यु से ठीक पहले की मुस्कान हो. "तुम मेरे बच्चों को संभाल लेना." रीता ने वाक्य पूरा किया.

अस्पताल के पिछवाड़े से कंटीली झाड़ियों में सरसराती हवा का स्वर और वर्षा की धार वातावरण को भयावह बना रही थी. पास के कक्ष से कभी-कभी किसी रोगी की कराहट का स्वर आता तो स्थिति और भी भयानक लगने लगती. रीता के चेहरे पर शांति घिर आयी जैसे वह सपनों में खो गयी है. तभी अचानक बिजली चली गयी और कक्ष में घुप्प अंधेरा हो गया. अंधेरे में कल्पना और रीता एक-दूसरी का चेहरा देख पा रही थीं. अचानक मंदिर में टनटनाती घंटियों का स्वर सुनाई नहीं पड़ा. कल्पना जैसे किसी स्वप्नावस्था से जागी. उसे कुछ ध्यान आया और उठकर उसने खिड़की खोल दी. सामने दुर्ग पर भी बिजली गुल थी परंतु मंदिर में जलते दीये का आलोक स्पष्ट दिखाई दे रहा था, मानो निराशा के मध्य आशा की कोई सुनहरी किरण रेंग रही हो.

वर्षा क्षण-क्षण जोर पकड़ती जा रही थी. जब-तब बगल वाले कक्ष से किसी रोगी की मर्मांतक पीड़ा का स्वर सुन पड़ता. कल्पना ने रीता की क्षीण पड़ती देह को सहारा दिया और स्वयं उसके सिरहाने बैठकर उसके सिर को अपनी छाती पर टिका लिया.

"उस मंदिर को देखो बहिन." कल्पना ने दुर्ग की ओर संकेत किया.

रीता चुप रही. वह मंदिर को आंखें फाड़कर कुछ देर तक घूरती रही.

"देवी का स्मरण करो. जीवन-मरण किसी के वश में नहीं, फिर भी मां में बड़ी शक्ति है. श्रद्धा और विश्वास का दर्जा बहुत ऊंचा है."

और रीता देखती रही उस आलोकित दीपक को. उसी दीपक को देखते-देखते वह चेतनाशून्य हो गयी.

उसकी चेतना फिर कभी नहीं लौटी.

उसकी निष्प्राण देह के पास खड़े डाक्टर की आंखें भर-भर आयीं. व्यथा का सागर अंतर के किनारों से टकराते-टकराते अंग-अंग में पसरता चला गया. हवा और वर्षा का वेग बढ़ता चला गया. गंभीरी पर बने पुल से टकराता पानी ऊपर से निकलने लगा. लगता था जैसे डाक्टर के मुंह से निकली आह आकाश की ओर अभिमुख होकर सर्वत्र फैलती जा रही है.

उस रात कल्पना को, न जाने क्यों, नींद नहीं आयी. प्रतिदिन चिकित्सालय में कोई न कोई मरीज दम तोड़ ही देता था. पर रीता की मृत्यु का दृश्य उसके मस्तिष्क में उथल-पुथल मचा रहा था. उसके चारों ओर एक घनी नीरवता घिरने लगी. पलकों पर बोझ बनी निद्रा आंखों में प्रवेश करने से हिचकिचाने लगी. 'तुम मेरे बच्चों को संभाल लेना' रीता ने उससे मृत्यु के कुछ ही क्षण पूर्व कहा था. उसके स्वर में कितनी आत्मीयता थी. और अब तो सच्चे हृदय से उसे रीता का आत्मीय बनकर दिखाना है.

वह बिस्तर से उठ खड़ी हुई. डाक्टर का घर उसने देख रखा था. वह सीधी वहां आयी. आकर देखा तो उसकी आंखें भर आयीं. बच्चों का रोने से बुरा हाल हो गया था. कल्पना ने रोहिताश एवं प्रेमा को गोद में उठा लिया. अपनी छाती से लगाकर उन्हें प्यार से चूमने लगी. एक अजनबी को इस तरह स्नेह करते देख रोहिताश ने पूछा, "तुम कौन हो?"

"मैं तुम्हारी अम्मा हूं." अनायास ही कल्पना के मुख से निकल गया.

"नहीं, तुम तो और ही कोई हो, हमारी अम्मा तो अस्पताल

में है."

"आज से मैं ही तुम्हारी अम्मा हूं."

"क्यों?" प्रेमा बोली.

"क्योंकि तुम्हारी अम्मा राम के घर चली गयी."

"पिताजी तो डाक्टर हैं, उन्होंने अम्मा को वहां जाने से रोका क्यों नहीं." रोहिताश ने भोलेपन से पूछा.

"गीता और गुड्डू तो कहते हैं कि हमारे पिताजी राम के घर जाने वालों को रोकने का काम करते हैं." प्रेमा ने बात स्पष्ट की.

कल्पना आश्चर्यचकित-सी बच्चों को देखती रह गयी. वह जानती थी कि मृत्यु का रहस्य वह बच्चों को किसी भी अवस्था में नहीं समझा पायेगी. तब उसे रीता की बच्चों के लिए बार-बार चिंता याद हो आयी. वह कुछ देर तक जड़वत्-सी अनबूझ पहेली की भांति बैठी रही.

और फिर?

फिर जिस चेहरे पर कभी प्यार का मानचित्र नहीं खिंचा था, कभी मुस्कान नहीं आयी थी, उस पर उन ताजा फूलों की सुगंध पाकर प्यार की झलक थी, हर्षातिरेक की मुस्कान थी.

कल्पना के ममत्व से बच्चे इतने आश्वस्त एवं प्रभावित हुए कि उन्हें इस बात का किंचित् भी आभास नहीं हुआ कि उनकी अम्मा उनके पास नहीं है.

कल्पना डाक्टर नरेश के घर रहने लगी उन बच्चों की मां बनकर न कि डाक्टर की पत्नी. डाक्टर के आग्रह और उनकी खंडहर होती जिंदगी ने उससे नर्स की नौकरी भी छुड़ा दी.

डाक्टर ने अलबम बंद करके वापस मेज की दराज में रख दिया. वह स्वयं सुस्ताने बिस्तर पर जा लेटे. वाहनों की आवाज अभी भी आ रही थी.

जब रात के बारह-एक बज जायेंगे तब कहीं जाकर उनका आवागमन रुकेगा और उस कोलाहल पर हावी होती शांति गंभीरी का धीमा-धीमा स्वर समेट लायेगी. कभी-कभी उन्हें रात को बहुत देर तक नींद नहीं आती तो गंभीरी के किनारे चले जाते हैं. चांद का प्रतिबिंब देखकर न जाने किस तरंग में बह जाते हैं कि पानी द्वारा तराशे किसी गोल-से पत्थर को उठाकर नदी में फेंक देते हैं और फिर लौट आते हैं.

कल्पना में डाक्टर ने अपनी इस स्मृति का चित्र बनाया और तब रंग भरने चली आयी स्वयं कल्पना. बीस वर्ष की दीर्घ अवधि गुजर गयी और कल्पना इस घर में बैठी अपना प्यार बांटती रही और वह कुछ नहीं कह पाये उससे. उसने अपने यौवन की उमंगों की बलि चढ़ा दी, उसी तरह जैसे मृगतृष्णा का शिकार हरिण हो जाता है. क्या यही सत्य है? एकाएक डाक्टर का मस्तिष्क चक्कर खाने लगा. अंधकार से ग्रसित धरती को अवश्य किसी आलोक-रश्मि की प्रतीक्षा रही होगी और वह करती रही बड़े धैर्य से प्रतीक्षा.

डाक्टर की विचारधारा टूटी. सीढ़ियों पर पदचाप सुनकर वह वर्त्तमान में लौट आये. संभलकर दीवार का सहारा ले द्वार पर दृष्टि टिकाकर बैठ गये. उन्हें पहचानते देर नहीं लगी कि कल्पना ऊपर आ रही है.

कल्पना हाथ में भोजन की थाली लेकर आयी. डाक्टर को बिस्तर पर पाकर उसने पूछा, "तबियत तो ठीक है?"

"नहीं!" डाक्टर के उत्तर ने उसे चौंका दिया.

"क्या हुआ?"

"आज इस घर में तुम्हारा अपमान हुआ है कल्पना."

कल्पना छटपटा गयी. उसने सिर उठाकर डाक्टर के मुख-मंडल को गौर से देखा. कंटीली झाड़ियों में हवा सरसराती हुई दौड़ रही थी. वह बच्चों को लेकर कितनी ही बार दुर्ग पर गयी थी. उसने उन खंडहरों को देखा था जो कभी प्रासादों के रूप में गगन की ओर उन्मुख होकर प्रसन्नतापूर्वक उसे निहारा करते थे. उसके विचारों में तैर गये वे ही प्रासाद... वे ही खंडहर.

"आप भोजन कीजिये." कल्पना ने बात टालते हुए कहा.

"आज मंगलवार है न?" डाक्टर ने पूछा.

"हां!" कल्पना का स्वर सिहर गया.

"भोजन बाद में किया जायेगा. पहले दुर्ग पर चलेंगे और आज तुम भी मेरे साथ चलोगी."

डाक्टर का निश्चय देखकर कल्पना कुछ नहीं समझ पायी. चुपचाप दूसरे प्रकोष्ठ में जाकर शाल ओढ़ आयी. डाक्टर के साथ घर से बाहर आयी तो जाड़े को अपने आंचल में दबाये हल्की-हल्की हवा चल रही थी जो शीशम और नीम के पत्तों से छेड़खानी करती किसी अनजान मंजिल की तरफ बढ़ी जाती थी.

एक टैक्सी में बैठकर कल्पना ने डाक्टर के साथ दुर्ग के लिए प्रस्थान किया. दुर्ग में प्रवेश करने के बाद वे टैक्सी से उतरे नहीं अपितु संग्रहालय, मीरा-मंदिर और विजय स्तंभ को पीछे छोड़ती टैक्सी देवी के मंदिर के सामने जाकर रुकी. आगे-आगे डाक्टर और पीछे-पीछे कल्पना. अभी भी कुछ भी उसकी समझ में नहीं आया था.

"कल्पना, जानती हो कि हम यहां क्यों आये हैं?" डाक्टर ने मुस्कराते हुए प्रश्न किया.

कल्पना ने कोई उत्तर नहीं दिया. वह चुपचाप खड़ी डाक्टर के मुख-मंडल की रहस्यमयी मुस्कान देख रही थी. बड़े-बड़े योद्धाओं के जन्म और बलिदान की कर्मभूमि यह दुर्ग न जाने क्या संदेश दे गया डाक्टर को. ये मूक खंडहर और पद्मिनी के जौहर की कहानी... क्या चुपके-चुपके कुछ कह गये? यही है स्वामिभक्त पन्नाधाय की मातृभूमि... यहीं पर उसके लाड़ले पुत्र-रत्न की बलिवेदी सजायी गयी थी.

"कल्पना! आज हम विवाह करेंगे." डाक्टर देवी की प्रतिमा के सामने मुस्कराये. उनकी मुस्कराहट में उल्लास का भाव भरा था.

कल्पना फिर भी कुछ नहीं बोली. उसने बोलना चाहा था किंतु स्वर जैसे गले में ही अटककर रह गये. वह बुत बनी जड़वत् डाक्टर की प्रसन्नता के छलकते झरनों को देखने लगी. उसे लगा जैसे चित्तौड़गढ़ के आस-पास की पहाड़ियों से एक साथ अनेक झरने फूट पड़े हैं, मानो वह उनके निनाद से मंत्रमुग्ध होती जा रही है.

"तुम आज उस घर की बहू बनोगी जिस घर की बहू संध्या बनकर आयी है. किंतु संध्या अब पुरानी बहू हो जायेगी और तुम उस घर की नयी बहू बनोगी." डाक्टर ने अपना संपूर्ण उल्लास उड़ेल दिया.

देवी की प्रतिमा दीपकों के प्रकाश में जाज्वल्यमान नक्षत्र की भांति दमक रही थी.

कल्पना को कुछ स्मरण हुआ. बचपन में जब वह अपने पिताजी के साथ इस दुर्ग और मंदिर में आती थी तो वह कहते थे कि इन अटल प्राचीरों का साहस देखकर खंडहर फिर जाग उठेंगे. उसे लगा जैसे उसके यौवन के दिन फिर लौट आये हैं और वह एक चंचल-सी बाला बन इन खंडहरों में खेल रही है. □

इस कहानी के लेखक बनवारी लाल नेहरा का जन्म 15 अक्तूबर, 1964 को सीकर के कटराथल ग्राम में हुआ. संप्रति श्री कल्याण महाविद्यालय, सीकर में अधिस्नातक (पूर्वार्द्ध) अंग्रेजी में अध्ययन रत. 'देशभक्त' उपन्यास प्रकाशित.

द्वितीय पुरस्कार विजेता कहानी

रथ पे रानी

सरोज पोखरियाल

जिनके माता या पिता नहीं होते वे बच्चे स्कूल क्यों नहीं जाते ? पिता के न होने पर मां द्वारा बेटी के लिए देखे हुए सपने सहसा डरावने क्यों हो जाते हैं ? और क्यों तड़क जाती है जिंदगी तवे पर पड़ती बूंदों की तरह ? भारतीय परिवेश में वैधव्य की यातना को उकेरती मार्मिक कहानी. . .

आटे की लोई चकले पर बिलते-बिलते पूर्णिमा के फैले-चांद-सी बिल्कुल गोल हो गयी है. रोज की तरह आज भी अम्मा इस चांद में सिमट आयी है. आंखों से दो बूंद पानी टपक कर गिर पड़ा है. अब अम्मा का प्रतिबिंब वहां नहीं है . . . है तो बस दो बूंद असहाय पानी. रोटी के तवे पर पड़ते ही ये दो बूंदें भी वाष्प बनकर शून्य हो गयी हैं. मैं तवे पर सिकती रोटी के मध्य फिर अम्मा को . . .

उनके प्रतिबिंब को तलाश कर लेना चाहती हूं परंतु सिकी हुई रोटी

का एक सर्द झोंका तिल-तिल जलती आग को एकतरफा कर गया है. हवा से हिलता टूटी खिड़की का तख्ता अब जोर-जोर से बजने लगा है. उस तख्ते पर नजर पड़ते ही मैं एक बार फिर अम्मा से . . . अपने अतीत से जुड़ जाती हूं . . .

दिनभर काम में खटकर रात को जब अम्मा सबके जूठे बर्तन चिमनी की उस धीमी-सी लौ में मांजती तो दिनभर सहमी-सहमी रहनेवाली मैं चुपके-से अम्मा के पास जाकर बैठ जाती. तब अम्मा काले कोयले के टुकड़े से खिड़की के टूटे तख्ते पर कुछ टेढ़े-मेढ़े धुंधले-से आखर लिखवाकर मुझसे बंचवातीं. बोल—'क से कबूतर, ख से खरगोश . . .' पर हर बार 'र से रथ, रथ पे रानी' बोलकर मैं और अम्मा दोनों चुप हो जाते. अम्मा मौत के से उस सन्नाटे में देर तक मुझे घूरती रहती.

मैं पूछती, "माई री, हम भी रथ पे रानी बनेंगे?" तो अम्मा मुझे गले से लगा लेतीं . . . और फिर बड़ी देर तक मुझे लगता रहता जैसे धीरे-धीरे मेरी पीठ अम्मा के आंसुओं से नम हो रही है.

मुझे याद है, एक बार मैं गोपी का बस्ता देख रूठ गयी थी—खाना नहीं खाया था मैंने. बस, यही रट थी कि गोपी बस्ता लेकर पाठशाला जाता है तो मैं क्यों नहीं! मुझे रूठता देख, गोपी चिल्लाया था, "मैं तो जाऊंगा पाठशाला, तेरा बाप कहां है! जिनका बाप नहीं होता, वो भी कहीं पाठशाला जाते हैं." मैं बहुत छोटी थी पर उसके ये शब्द कहीं दूर तक मेरे सीने में धंस गये थे. उसके बाद कभी कोई जिद नहीं की थी मैंने.

बस, सूनी-सूनी आंखों से बाऊजी की तस्वीर देखती रहती.

बाऊजी के बारे में मैं बस, इतना ही जानती थी कि बाऊजी पगला गये थे. ये तो बड़ी होकर ही पता चला कि लोगों के कहकहों और पत्थरों की नुकीली चोटों ने ही मेरे बाऊजी की जान ली थी. इन पत्थरों की भयानक टीसों को मैंने कई बार अम्मा की बेबस आंखों में भी देखा था. चाचा बाऊजी के सौतेले भाई थे. बाऊजी के बाद उन्होंने ही मुझे और अम्मा को सहारा दिया था. बाऊजी की एक बहन भी थी—हमारी बुआ, सुंदर-सी, घुंघराले बालोंवाली. मैंने तस्वीर में देखा था—बाऊजी के बाल भी ठीक बुआ की ही तरह घुंघराले थे.

साल दो साल में बुआ हमारे घर आया करती थीं. तब सब कुछ बदल जाता.

दिन भर अम्मा को ताने सुनानेवाली मेरी चाची अम्मा को 'बड़ी बाजी' कहा करती. चाचा भी अम्मा की खुशामद में लगे रहते. तब बुआ मुझे तालाब के पानी में नहलाकर ससुराल से मेरे लिए लायी लाल, पीले, हरे रंग की झगुली पहनाती. बुआ अम्मा को भी बड़ा मान देती थीं.

अम्मा के गडमगड बालों को सुलझाकर बहुत-सा तेल लगा, चिपकी धमेली बांधती, उसकी जोड़ लगी धोती को उतार सफेद जगमग छापोंवाली धोती पहनातीं. उस समय कुछ क्षणों के लिए अम्मा के चेहरे पर छायी रहनेवाली सफेदी दूर हो जाती. पर बुआ के जाते ही सब कुछ फिर अपनी धुरी पर आ जाता. चाची अम्मा के सफेद छापोंवाली जगमग धोती ले लेती और मेरे शरीर पर भी वही चिथड़ा आ जाता.

कुछ बड़ी होकर मैं सब कुछ समझने लगी थी. अब मैं तालाब के उस पानी से नहाकर स्वयं ही अपने बालों की धमेलियां बनाती और तवे की कालिख से एक छोटी-सी टिकुली अपनी भौंहों के बीच लगा लेती.

अम्मा बस, खोयी-खोयी-सी मुझे देखती रहतीं. लगता था, जैसे वर्षों की बेबसी और टूटेपन ने उन्हें गूंगा बना दिया है. कभी-कभी

अम्मा का यह लंबा खामोशी मुझे तोड़कर रख देता. धीरे-धीरे अम्मा की तबीयत गिरने लगी थी. और एक दिन खून की ढेर सारी उल्टी के साथ मानो वर्षों का गुबार बाहर निकल आया था.

अम्मा को टी.बी. हो गयी थी.

"बीमारी, वो भी छूत की!" चाचा का कहना था, "हमारी तो कोई बात नहीं पर छूत की बीमारी में बच्चों का तो खयाल रखना ही पड़ता है." और अम्मा को भैंस बांधनेवाली छन दे दी गयी थी. सीलन में बनी उस छन में कहीं सूरज, कहीं कोई चांद नहीं था.

अम्मा की जगह अब मैं काम में खटने लगी थी.

घोर अंधियारी काली रातों में चिमनी की बीमार-सी लौ में अम्मा बस, मुझे घूरती रहती. वह मेरे बारे में सोचतीं, मेरे ब्याह के बारे में सोचती.

चाचा को भी अपना फर्ज निभाने की बहुत जल्दी थी, सो चाचा ने एक दिन मेरा ब्याह कर दिया. चालीस बरस के दूल्हे को देखकर भी मैं मूक रही थी. यह मेरी बेबसी या सहमापन कुछ भी हो सकता है. अम्मा ब्याह में शामिल न हो सकी थी. चल नहीं सकती थी. विदाई के समय मैं अम्मा से मिलने गयी थी. जवाई को देख अम्मा जैसे पगला गयी थीं. आशीर्वाद तक नहीं दिया था मुझे. बस, जाने क्या बुदबुदाती रही थी. . . 'र से रथ, रथ पे रानी' और माथे पर बड़ी-सी टिकुली लगाये लाल सुर्ख मांग भरे मैं यूंही अम्मा को देखती रही थी. बस, वहीं मैंने अम्मा को आखिरी बार देखा था. . . बिल्कुल टूटते हुए.

बाऊजी शीशे में जड़ी उस तस्वीर से ही मुस्कराते रहे थे.

ब्याह के बाद मैं कभी लौटकर गांव नहीं गयी थी. गृहणी जो बन गयी थी. सिर्फ यही पता चला था कि अब अम्मा बोलती नहीं. बस, चुपचाप हर आने-जानेवाले को ताका करती है. कभी खेतों में दूर-तक दौड़ती है, कभी हंसती है और कभी चिल्ला-चिल्लाकर रोती है. ये सड़क बनाने के काम में मजूरी करते थे. एक दिन काम पर ऐसे गये कि लौटकर ही न आये.

मैं कुछ समझ पाती कि लोगों ने आकर मेरे माथे से टिकुली पोंछ दी, हाथों की चूड़ियां तोड़ डालीं और ठीक वैसे ही सफेद छापों-वाली जगमग धोती पहना दी जैसे बुआ अम्मा के लिए लाया करती थीं.

एक दिन जब मैं यूंही रसोई में बैठी धुएं की लकीरों के मध्य अपने अतीत को देख रही थी तो पता चला, गोपाल आया है—मुझे लेने, अम्मा के आखिरी दर्शनों के लिए. मैं गयी थी. अम्मा उस सीली हुई छन की लिपी-अनलिपी जमीन पर चित्त लेटी थीं. आंखें स्थिर हो गयी थीं—पगली के शरीर पर पड़ी पत्थरों की टीसों को मैं अनुभव कर रही थी.

पर अम्मा की आंखों में छिपी असंख्य पीरें अब शांत थीं. शाम के उस झुटपुटे में मुझे लगा जैसे चारों ओर का अंधेरापन मेरे लिए ही उभर आया है.

मैं बस यही कह पायी थी, "माई री, अपनी लाडो का भी इंतजार न कर सकीं, देख तो लेतीं इस सफेद जगमग धोती में मुझे . . .!" कि तभी चचा चिल्ला पड़े, "अरे भई, जल्दी करो, अंधेरा हो रहा है. चिता को आग देकर घर भी तो लौटना है!" और उसी आवाज में जैसे मैं और अम्मा दोनों खो गयी थीं.

आज बहुत साल बीत गये. पंद्रह बरस से मैं आज चालीस की हो गयी पर अंधेरी रसोई में जब भी चकले पर लोई बिखेरती हूं तो अम्मा उस पर उभर आती हैं जैसे बुदबुदा रही हों, 'रथ पे रानी. . . मेरी लाडो रथ पे रानी . . .'

□

● सरोज पोखरियाल, जीसस एंड मेरी कालेज, नयी दिल्ली की छात्रा हैं.

तृतीय पुरस्कार विजेता कहानी

धार्मिक अंधविश्वासों को लेकर आखिर कब तक हमारे ग्रामीण तथा आदिवासी लोग ओझाओं और तांत्रिकों के जाल में फंसते रहेंगे? कैसे होते होंगे वे क्षण जब कोई नारी उठकर उन्हें चुनौती देती होगी और वे अपने ही जाल में फंसे तड़पते होंगे!

कुछ ऐसी ही स्थितियों से आपको दो-चार करा रहे हैं एक युवा कथाकार

नाती बहू

प्रमोद कुमार ब्रह्मभट

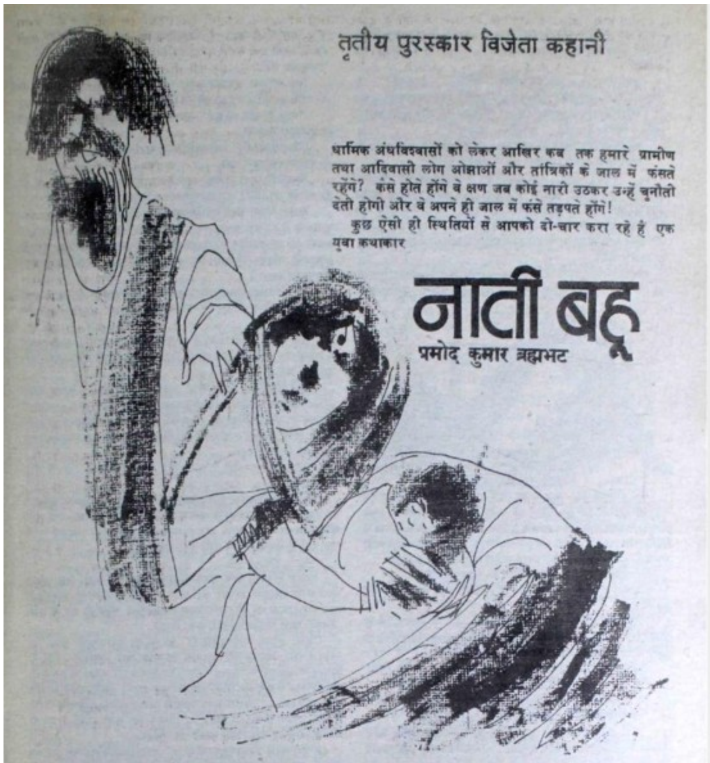

जोगीपुर! जी हां, जोगीपुर. भैसाझार-जोगीपुर. रतनपुर से. . . जहां ढलती रात के अंतिम पहर में पेटपोन्छी तारा 'सुकुवा' के आकाश में अवतरते ही, जाग हो जाती है. मौसम का तेवर कुछ भी हो, चाहे पानी गिरे या ओला, गांव के जाग पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता.

अंधेरा कम हो चला, गोड़पारा का सबसे सियाना किसान अंजोरसिंग जाग गया है. उसे अब नींद नहीं आयेगी—वैसे भी बुढ़ापे और नींद के बीच हमेशा से पुश्तैनी दुश्मनी रही है. वह अपने घर की परछी पर आकर उकड़ू बैठकर आसमान की ओर देखने लगा.

. . . श्रावण का शुक्लपक्ष, मेघों से घिरा आकाश, रिमझिम बरसता पानी. इन आकाशी मोतियों को देख, अंजोरसिंग के अंतर में आशा की एक किरण. . . बिजली की तरह कौंध गयी. अनायास उसके मुंह से निकला. . . सुकाऽल.

खेतों में, मैदानों में, दूर आम की अमराई में झकझोर बरसते मेह. . .

अनवरत! मोती? नहीं रे अन्न, अन्न परमेश्वरी, किसान का ईमान-धरम. आनंद विभोर हो गया अंजोरसिंग. उसे चोंगी की तलब लग आयी.

अंजोरसिंग ने अपनी जेब टटोली—चोंगी? . . . है. चंगी? . . . है. सेमल की रुई, लोहे का टुकड़ा, चकमक पत्थर? हां है. वह संतुष्ट हुआ.

चोंगी के चोंच में, शोला चमका! गहराता कश और खांसी खों. . . खों. . . मितान है दोनों. . . हमजोली! मोजली! !

खांसते-खांसते चोंगी से धुआं उठा, सपने जगे उठे और उड़ चले. सपने उसके अपने. अनुभवी सयाने सपने!

. . . सुकाल! हूं-हूं. . . क्या दिया है इसने गरीब किसान को, एक झूठा संतोष—सुनहरे भविष्य की कल्पना बस. भई सुकाल! तो अमीर किसानों का, ऐसे समय ही तो उनका डेढ़ी बाढ़ी में दिया गया धान, मय ब्याज के वसूल होकर कोठी में फिर से आ जाता है. सुकाल! बनिये और सेठों का ऐसे सम्मत के उस साल वे सब मिलकर एकदम गिरे भाव से धान खरीदेंगे.

बिचारे छत्तीसगढ़ के छोटे किसान—उनका कटोरा खाली का खाली रह जायेगा. फिर शुरू होगा—परदेश जाने का क्रम. . . कमाने-खाने

. . . पलायन!

भूत, भविष्य और वर्तमान का चित्र एक साथ उसके मानस में घूम गया—अंजोरसिंग का मन खिन्न हो गया. निराशा भरे मन से उसने सोचा—दरअसल दो-चार साल के दुकाल के बाद का सुकाल गरीबों के किसी काम का नहीं होता. जिसने अकाल के समय डेढ़ी-बाढ़ी में धान खाया है, सुकाल के समय उसे ब्याज सहित लौटाना भी पड़ता है.

. . . गांव में ईमान-धरम बिगाड़ने की चाल नहीं होती.

"कुकरूं. . . कूं!" मुर्गे ने बांग दी. लगभग उसी समय वर्षा बंद हो गयी.

"बैला रे केती जाये." पटापट लाठी से पीटने के साथ किसी ने छत्तीसगढ़ी में बैलों को ललकारा. कोई इस ओर छपक-छपक गली के पानी में पैर रखते चला आ रहा है. . . बैसवार है.

"कौन, उधो है क्या? बिसवार पारावाला."

"नहीं बबा, सतनामी पारा का लक्ष्मन हूं, पायलागी."

"चिरौंजी रह, अम्मर रह बेटा, कितना बजा होगा."

"अभी-अभी कुकरा बासा है बाबा. . . चार बजा होगा."

"अरे! चार बज गया." अंजोरसिंह को कुछ याद आया, उसने आवाज दी, "तिजऊ. . . ओ-रे तिजऊ. . . ! उठ बेटा उठ; पहट चराने का समय हो गया. . ."

"बहू. . . ! ओ नाती बहू! उठा तो तिजऊ को, कब जायेगा पहट चराने." अंजोरसिंग चिंतित स्वर में पुकारा.

सुनने को तिजऊ सब सुन रहा था पर जान-बूझकर बिस्तर में पड़ा रहा, सुबह-सुबह उठने का मन भी तो नहीं होता, कोई क्या करे.

"ए. . . हो! उठो न." हड़बड़ी के अंदाज में बुधवारा ने तिजऊ को झकझोरा.

"चुप, सोने दे. . . साली."

"साली! हे भगवान! का असाध का साथ दिया. अब सिर धर के रोवो जिंदगी भर, धन्न रे फूटहा करम." बुधवारा राई के बघार की तरह 'चड़फड़ाने' लगी.

अब सचमुच महाभारत शुरू हो जायेगा, तिजऊ के समझ में बात आ गयी. उसको उठना था सो उठ गया.

"कहां है मोर पटकू?" उठकर जम्हाई अंगड़ाई लेते हुए तिजऊ ने बुधवारा से पूछा.

"मैं नई जानों," नयी बछेड़ी की तरह बुधवारा भड़क उठी. गुस्से के कारण मुंह फूल गया.

तिजऊ ने ध्यान से देखा—कुप्पागाल ऐसे कि हर एक गाल में दो-दो आंवले आ जायें; वह मन ही मन सोचकर मुस्कराया.

तिजऊ अपनी भैंसों को निकालने जैसे ही कोठे में घुसा उसका फिर बुधवारा से सामना हुआ. बुधवारा बचकर निकल गयी. अपने स्कूली जमाने की खो-खो टीम की कैप्टन-कुमारी बुधवारा धुर्वे, कक्षा आठवीं, महारानी लक्ष्मीबाई-शासकीय कन्या उच्चतर माध्यमिक शाला, बिलासपुर (म.प्र)

"हे भगवान! क्या खिलंदर का साथ दिया, गच्चा देती है, छकाती है साली. . . पति-परमेश्वर को. धन्न रे फूटहा करम." तिजऊ ने बुधवारा की नकल की.

दीया लेकर किसी काम से आंगन में आयी बुधवारा यह सुनकर अचानक थम गयी. तिरछी नजरों से उसने तिजऊ को देखा, हंसी और लजाकर घर में घुस गयी.

भैंसों को आंगन में खड़े-खड़े पगुराते देख तिजऊ का माथा खराब हो गया. भैंसों को तुतारी से पीटते हुए बोला, "ये चंदुआ साला! बदमाशी में बड़के को भी सांठ लेता है; है नंबरी! . . . बात सुनने से पेट नहीं भरेगा समझे, चलो जंगल." वह लाठी से भैंसों को हांकते हुए घर से बाहर सड़क पर निकल आया.

"आज पच्छिम नहीं रे, पूरब-नदी तरफ चलना है." उसने भैंसों को निर्देश दिया.

चंदुआ भैंसा बदमाश है तो क्या हुआ. है बड़ा सयाना. तिजऊ के इशारे को समझता है. . . चंदुआ ने आसमान की ओर सिर उठाया, कुछ सूंघा और चल पड़ा पहट चरने. चंदुआ बड़का के आगे-आगे अगुवाई करते चल रहा है, उसके गले में बंधी घंटी बज रही है.

टुन. . . टुन. . . टुन. . . !

तिजऊ भैंसों के पीछे सड़क-ही-सड़क कुछ दूर चला. जब चंदुआ भैंसा सड़क छोड़कर मरघट की ओर जाने वाली सुनसान पगडंडी में मुड़ा तब तिजऊ को भी उसके साथ मुड़ना पड़ा. महुए के पेड़ के पास 'धचाक्' गड्ढे में गिरते-गिरते बचा तिजऊ.

"हट्ट साला, यहां गड्ढा है." हैरानी-सी हुई उसको. गड्ढे को ध्यान से देखा. अरे यह तो आजकल का खोदा गया लगता है—बिजली विभाग के कर्मचारियों द्वारा." सब बात तिजऊ की समझ में आ गयी. वह जोगीपुर के खूंट-खूंट से परिचित है. कुछ छुपा है उससे, नहीं! 'जननी जन्म भूमिश्च. . . 'तिजऊ बहुत पहले से अरपा नदी के पासवाले जंगल में पहट चराया करता है. कबसे? . . . जब उसकी नन्हीं आंखों से बकरी भी शायद बराबर बड़ी दिखा करती थी, तब से.

अरपा नदी! बिलासपुर की गंगा! आज सुहावन-सुहावन हुई जा रही है. कल तक बिचारी गर्मी और ठंड में बिरहनी की तरह सूखी, सिमटी-सी रहती थी, पर अब बरसात में इसके तेवर तो देखो! क्या कहने, जवाब नहीं इसका! बाढ़ है कि दोनों किनारों को चूमती चली जा रही है और अरपा उसे अपनी बाहों में भरने को आतुर मटमैली धारा लहराकर आगे बढ़ रही है. उसके साथ बहकर आ रही है—ढेर सारी जंगली लकड़ियां, झाग के बोंडे.

अरपा के कछार पर भैंसों को चराते समय तिजऊ के दो और भैंसवार साथी उससे आ मिले. तिजऊ खुश हुआ. उसका साहस भी बढ़ गया.

उसे शरारत सूझी. उसने प्रस्ताव रखा, "चलो भैंसा नदी में, घाट तक तैरते चलेंगे.

"ठीक है, चलो." सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित.

भैंसे पानी में, भैंसों से चिपके भैंसवार, कुछ तैरते तो कुछ बहते हुए. "ए-ए भैंसारे." भैंसों को मार्ग निर्देश मिल रहा है. पुल के पास भैंसों ने किनारा लिया और भैंसवार घाट पर उतर पड़े.

कितने दिनों बाद तैरने को मिला है. मजा आ गया. तिजऊ के मन की साध पूरी हुई. नदी में कभी-कभी तो बाढ़ आती है. मौका कौन छोड़ता है. घाट में तीनों दोस्त अपनी-अपनी भैंसों को पैरा के गुच्छों से रगड़-रगड़कर धो रहे हैं. भैंसें मौज में हैं. मालिश तेज होने पर वे आंख मुंद पानी में अपनी मुंडी डुबाकर तृप्ति की सांस लेने लगती हैं.

नहा-धोकर जब तीनों दोस्त नदी के कगार में चढ़े, तब तक सूरज एक बांस ऊपर आसमान पर चढ़ आया था. बादलों को चीरकर निकलती किरणें धरती पर फैल रही थीं. कगार तक आते-आते सबके पैर कीचड़ के 'कीचर-कांचर' में लतफता गये. तिजऊ के एक दोस्त ने सड़क किनारे के गड्ढे के पानी में पांव धोते हुए तिजऊ को ताना दिया, "अरे, मजा तो तिजऊ का, खेत में पंप के नीचे गोदगोदा में पांव धोवेगा."

गद. . . गद. . . गद. . . गद. . .

तिजऊ प्रतिवाद न कर सका. बात भी सच थी. पर भाग्य के इस खेल से वह खुश नहीं है, बिलकुल नहीं. हां! एक जो घाव था अब फिर से हरा हो गया. एक जमाना गुजर गया उसे मैट्रिक पास किये हुए. वह प्रथम श्रेणी में पास हुआ था. खान सर ने उसकी पीठ ठोंकी थी. क्षेत्र का वह प्रथम आदिवासी छात्र था जिसे इतना अच्छा प्रतिशत प्राप्त हुआ था. नयी इच्छाओं के साथ उसने शिक्षक चयन का इंटरव्यू दिया था. उसमें भी उसे सफलता मिली थी. . कितना प्रसन्न हुआ था वह जब उसे शिक्षक ट्रेनिंग में बिलासपुर जाने का आर्डर मिला था. बाबू भी खुश थे कि चलो चार पैसा घर आयेगा गरीबी कुछ तो कम होगी. पर इस आर्डर से तिजऊ की मां बिलसिया और बाबा को कोई खुशी नहीं हुई. बिलसिया तिजऊ के बिलासपुर जाने की तैयारी स्वयं करती तथा एकांत पाकर खूब रोती.

सामान बांधकर जैसे ही तिजऊ मोटर स्टैंड की ओर बढ़ा कि बिलसिया पछाड़ खाकर गिर पड़ी. कुहराम मच गया. देखो-देखो क्या हुआ? दौड़ो-दौड़ो. बाबू, बाबा मुहल्ले-पड़ोस के सब लोग जमा हो गये. ठंडे पानी के छींटे और पंखे की हवा से काफी देर बाद बिलसिया को होश आया.

आंखों को खोलते ही बिलसिया ने चारों ओर देखा. तिजऊ को देखते ही लपककर गले लग गयी और कहने लगी. "मैं तेरे बिना न रह सकूंगी रे तिजऊ. मत जा बेटा," आंखों में बहती आंसुओं की अविरल धारा! बाबा भी खड़े-खड़े रोने लगे. बोले, "तेरे बिना घर में क्या रह जायेगा. रे! मत जा बेटा टरेनिंग में. . . नूनभात खा लेंगे पर रहेंगे एक जगह. तेरे अकेले के खाने के लिए तो बहुत जमीन है."

. . . . अपने अरमानों का गला घोंटकर तिजऊ को गांव में रुकना पड़ा था. मां-बाप का इकलौता बेटा होना भी एक मुसीबत है—तिजऊ ने पहली बार जाना था.

फिर शादी हुई, शादी के साथ तिजऊ ने पहली बार हल की मुठिया पकड़ी. उसने उन्नत खेती से रिकार्ड उत्पादन किया है—सामूहिक कुआं पंप की मदद से. जिले भर में नाम है उसका.

कुंआ पंप बैठाने में कितनी मुसीबत का सामना करना पड़ा था उसे. तिजऊ ही जानता है. उसे चाचा-चाची को मिलाने में बहुत कष्ट उठाना पड़ा था. जैसे-तैसे शासन से बीस हजार रुपये का ऋण मंजूर हुआ. जब दो हजार रुपये जमा करने का समय आया तो मंझली काकी बेईमानी पर उतर आयी. बोली, "हमारे पास पांच सौ रुपये क्या पांच पैसे भी नहीं हैं. अभी तुम लोग हमारी तरफ से मिलाकर पटा दो. धीरे-धीरे हम कमाकर छूट देंगे." पिताजी के होश गायब, पर बाबा ने मुसीबत में साथ दिया था. न जाने कहां से लाकर पांच सौ रुपये दिये, तब कहीं जाकर बैंक में अग्रिम दो हजार रुपये पटे थे.

ऋण भुगतान के समय बैंक के लगभग सब कर्मचारियों की लार टपकने लगी थी. उनकी आंखों में भेड़िये की तरह चालाकी की चमक और वहां कितना खाऊं, कितना बचाऊं का वातावरण. वो तो कहो कि तिजऊ पढ़ा-लिखा था जो उसे पूरा पैसा मिल गया, अन्यथा ये कर्मचारी अन्य गरीब किसानों से बीस से पच्चीस प्रतिशत अनुदान राशि देने के पहले ही खाकर डकार जाते हैं.

'जा रे. . . कैसी अजीब दुनिया है. जिसे भी लंका का राज्य दे दो वही रावण बन जाता है.' सोच-सोचकर तिजऊ का मन कड़वा गया.

लो! गांव आ गया और उसे पता ही नहीं चला. पीपल के पेड़ के नीचे गुंठ राऊत की बिटिया अपनी सहेलियों के साथ फुगड़ी प्रतियोगिता प्रारंभ करने में व्यस्त है. छोटी-छोटी लड़कियों का एक घेरा-सा बना हुआ है. अपने नन्हें-नन्हें हाथों से लीपने का अभिनय करते हुए, उन लड़कियों ने गाना शुरू किया.

दे बछरू गोबर दे, चारों खूंट ला लीतन दे.
एक पांव में लाल भाजी, एक पांव में मुघली.
फुगड़ी फूं. .. रे. . . फुगड़ी फूं. . .

सब कुछ तो है यहां ! जीने को और परिस्थिति से लड़ने को. . . . . एक जंगली उत्कंठा ! परंतु चुनावी माहौल में शहर से एडवांस में माइनस नंबर का चश्मा लगाकर आये नेता पास आकर भी गांव की इन तमाम बातों को देख नहीं पाते. समय आ गया है. . . . अब की बार जब भी गांव आयें तो कृपया अपना समूचा चश्मा ही बदलकर आयें.

छोटे-छोटे हाथ-पांव चले, लड़कियां चकरघिन्नी हो गयीं. थकीं, रुकीं, नन्हें हाथ जमीन की कीचड़ में छप गये और चंदैनी गोंदा के फूल एक साथ खिलखिलाकर हंस पड़े.

ही. . . ही. . . ही. . . ही. . .

. . . हंसी-खुशी. . . सब कुछ तो है यहां! जीने की और परिस्थिति से लड़ने की. . . एक जंगली उत्कंठा! परंतु चुनावी माहौल में, शहर से एडवांस में माइनस नंबर का चश्मा लगाकर आये ये नेता. . . पास आकर भी गांव की इन तमाम बातों को देख नहीं पाते. यही तो विडंबना है. समय आ गया है. . . अब की बार जब भी गांव आयें तो कृपया अपना समूचा चश्मा बदलकर ही आयें, और कांच! वह माई प्लस नंबर का ही चाहिए सच.

"गांव ढूंढने की चीज है. . . सहलाने की नहीं." तिजऊ ने अपनी कल्पना में वोट मांगने आये किसी एक दिल्ली वाले एम.पी. से कहा.

तिजऊ ने दोनों भैंसों को कोठे में बांधा. भैंसें एक साथ 'कोटना' में मुंह डालकर कुछ ढूंढने लगी.

"सानी चाहिए, है ना! लाता हूं पर शैतानी नहीं." तिजऊ बोला, वह कोठे से बाहर आकर आंगन के बांस पर अपना गीला पटकू सुखाने लगा.

"ओं ए. . . ओं ए. . . !" एक साथ दोनों भैंसें चिल्लाने लगीं.

तिजऊ ने पलटकर देखा और मुस्कराकर कहा, "साले जी-छुट्टे!"

घर आकर वह ठीक से खड़ा भी नहीं हुआ था कि बाबा की आवाज आयी. "तिजऊ, मेरा तंबाखू खतम हो गया बेटा, दुकान से ला दे."

तिजऊ को सुबह-सुबह पंडित रामफल की दूकान जाना पड़ा. रामफल किराने के साथ पान-बीड़ी भी रखता है. वहां जब भी पहुंचो गांव के चार आदमी बैठे मिल जायेंगे. किसिम-किसिम की गोठ बात

कुछ गांव-घर की, कुछ देश-परदेश की होती ही रहती है.

". . . अब क्या बतायें इलाहाबाद की बात. बहुत बड़ा शहर है, बहुत बड़ा रे. . .अपने बिलासपुर से कितना बड़ा!" मैकू ने समा बांधा.

मैकू इलाहाबाद से ईंटा भट्ठा में काम करके अभी-अभी लौटा है. उसके हाथ में है चमचमाता ट्रांजिस्टर, दिल्ली माडल. बतियाने को बहुत से किस्से हैं, बस हुंका देने वाला चाहिए, मिल भर जायें.

"वहां ईंटा भट्ठा में सब काम अंडर गिराऊंड होता है. पोंगड़ू से धुआं निकलता है. . . इंजन ऐसन फक्क. . . फक्क." मैकू ने दूकान में बैठे लोगों को समझाया.

"ईंटा बनाना तो मेहनत का काम होगा?" एक ग्रामीण ने पूछा.

"क्यों नहीं? . . . अब देखो भाई, मेहनत का ही पैसा देते हैं ठेकेदार, कोई फोकट में पैसा थोड़े ही देगा.

"कितनी रोजी पड़ती थी वहां जोड़ी पीछे?"

"अच्छा कमईया हो तो तीस से चालीस रुपये रोज." मैकू लापरवाही से बता गया.

". . तीस रुपये! . . .एक आदमी की मंजूरी!" हरखू ने हिसाब लगाया उसकी आंखें गोल हो गयीं. उसने अपने कर्ज की समस्या का हल ढूंढ़ लिया. वह इस साल किसानी के बाद किसी भी कीमत पर गांव में

नहीं रुकेगा. चाहे कोई कितना भी रोके.

मैकू अपनी मौज में है. इलाहाबाद के संस्मरण सुनाने को उसका जी बार-बार कुलबुला रहा है.

"अब की बार इलाहाबाद से लौटते समय बड़ा मजा आया हम लोग आ रहे थे. रेलगाड़ी खचाखच भरी हुई थी. तब टिकस बाबू डिब्बे में टिकस चेकिन करने आया. मैंने उसको नमस्ते किया. उसने मुंडी हिलाकर जवाब दिया और आगे बढ़ गया. मैंने टोका, 'बाबू! आपने हमारा टिकस नहीं देखा, लो देखो.' उसने टिकस लिया और हैरानी से पूछा, 'क्यों जी, जब तुम टिकस लिये थे तो नमस्ते क्यों किये?' मैं बोला, 'ऐसा क्या साहब को नमस्ते नई बोलना चाहिये.' वह हमारा टिकस चेकिन कर मुस्कुराया फिर आगे बढ़ गया.

"इसके बाद नैनी जंकसन में एक शहरी बाबू आये. हमको उठाने लगे. बोले, 'चलो उठो यहां से! कहां से चले आये गोड़ गंवार.' मैं बोला, 'ए बबू डराना किसी और को. हमने भी टिकस लिया है फोकट में थोड़े ही चढ़े हैं, नई उठते, वह चुप रह गया. कुछ नहीं बोला, क्या बोलता? अरे चोर के जी थोर है न जी फि दो स्टेशन बाद मैंने उसको बैठने की जगह दे दी. बेचारा बड़ा सुकुमार था. मैंने उसको समझाया, 'देखो बाबू, तुम लोग 'गिलास' तक पढ़े हो तो हम दिहाती 'डिराम' तक. गांववालों को एकदम मुच्च मत समझा करो. हम लोग पढ़े नहीं तो क्या हुआ, कढ़े होते हैं. . . हां."

गांववालों की छाती गर्व से फूल गयी. परदेश में मैकू ने उनका सच्चा प्रतिनिधित्व किया था.

"भाई, कुछ भी कहो, कमाने-खाने का मजा तो 'इप्पी मैड' में आता है."

"तो क्यों लौट आये छत्तिसगढ़. वहीं रह जाते." तिजऊ ने जलकर कहा.

"अरे लो! सुन लो इसकी बात! भला अपना गांव, अपनी माटी छोड़ सकता है कोई. . . जंगल का हिरन कितनी देर रुकेगा शहर में. वहां सब साला. . . ईंटा पत्थरा. . .सिरमिट का संसार. पेड़, पौधे, पहाड़ कुछ तो नई मिलता देखने को. मैं शहडोल से बिलासपुर तक रेल की खिड़की से जंगल को देखते आया हूं. कोई चाहे तो मुझसे कसम ले ले." मैकू अपनी कल्पना में खो गया.

मन से निकली बात मन को भा जाती है. अब कोई क्या करे इस मन का. एक मलाल था तिजऊ के मन में सो धुल गया, नहीं. . . अब मैंक से तिजऊ को कोई शिकायत नहीं है.

तंबाकू लेकर तिजऊ घर आ गया. घर में उसे पता चला कि उसके दो साल के लड़के नानकुन को अभी-अभी फिर बुखार आ गया है. परसों आया था, तब मलेरिया वर्कर ने गोली खिलायी थी. बुखार फिर कैसे आ गया?. . .लगता है गोली बेकार गयी. घर के लोग बैगाई के चक्कर में हैं जबकि बुधवारा डाक्टर को बुलाने की हठ कर रही है.

बुधवारा ने बासी खाने के लिए तिजऊ को बुलाया. रंधनीघर से पहले आंगन पड़ता है. आंगन में मुर्गी अपने नन्हें चूजों को दाना चुगना सिखा रही है. तिजऊ को याद आया. . . यह मुर्गी कभी स्वयं एक चूजा थी. इस नन्ही सी जान को जाने बुधवारा कहां से पकड़ लायी थी. खरीदा भी था या वैसे ही मांग लायी थी. बुधवारा आंगन में कनकी के दाने कुछ ज्यादा ही बिखेर देती है. उसके प्यार और सहानुभूति की निशानी है—यह मुर्गी का भरा-पूरा परिवार. . . छोटे-छोटे गोल-मटोल चूजे! अरे देखो तो! कैसे अपनी मां से दाना छुड़ाते हैं. इन चूजों की आंखों में काजल भी है. कुछ चूजे तफरी के चक्कर में आंगन से दूर चले जाते हैं तब मुर्गी दौड़कर रोकती है. बेचारे अबोध चूजे! उन्हें क्या पता कितने दुश्मन हैं उनके!

तिजऊ को अपने नानकुन की याद आ गयी. अबोध चूजा नानकुन, जो बुखार के कारण अपनी दादी की गोद में सो रहा है. नहीं. . . अब उससे खाया नहीं जायेगा.

"बटकी, ले जा भूख नहीं है."

"क्या हो गया. . . खाते क्यों नहीं." बुधवारा ने पूछा.

"लड़का बिमार है और हम खायें. . .मकोसें." तिजऊ झल्लाया.

"लड़के पर इतनी ही दया है तो डाक्टर क्यों नहीं बुलाते."

"हम तो मर गये साले लिहाज में." उत्तेजना के साथ अपनी मजबूरी जाहिर करते हुए तिजऊ खेत चला गया.

बुधवारा की सास बिलसिया जब खोंटनी भाजी तोड़ने अपनी बाड़ी में गयी, उसी समय बाड़ी से मिली बाड़ी की रूंधान के पास आकर मंझली काकी ने उससे पूछा, "न हो, तिजऊ की दाई, तुम्हारे नाती की तबीयत खराब है. कसरहा, है क्या?"

"हां बहन, अब क्या बतायें, नानकुन के पीछे पड़ गयी है रांड सौतिन," माटी से सने साग को अपने कोंछे से पोंछते हुए बुधवारा की सास ने कहा.

"फिर बैठी काहे है, बुला न रामदीन बैगा को."

"तिजऊ के बाबा बैगा बुलाने ही तो गये हैं."

"देख दीदी, अबकी बार एक काम जरूर करना, टोनही का नाम फोड़वा लेना." मनटोरा काकी ने सुझाव रखा.

बुधवारा की सास ने गहरी सांस ली और बोली, "नाम कैसे बतायेगा बहन, उसको भी तो गांव में रहना है, वही होगी तलवा पार वाली. . . विष है विष. पुरानी लड़ाई का बदला ले रही है, दोखही!" बताते-बताते तिजऊ की मां उत्तेजित हो गयी, आकाश की ओर देखकर बोली, "हे सूरज भगवान! तू छात-छात देवता है. जब मैंने किसी का बुरा नहीं किया तो मेरा भी बुरा मत करना. जिस भौजी रांडी ने मेरे नानकुन को कुछ किया हो, उसका रात भर में मुरदा निकले." श्राप देते हुए बुधवारा की सास बिलसिया ने अपनी दसों अंगुलियां पटापट फोड़ डाली, उसका 'करम कल्ला' गया.

"हां-ओ दीदी, सहिच बात है. कितना सुन्दर लड़का है; दिन भर 'करनमुआ' जैसे बोलते रहता है, तीन दिन से मैं भी देख रही हूं—पियरा रहा है. . . . का मालूम का मिलता है इन राड़ी मौजिन को बच्चों का खून चूसने में." मनटोरा ने पूरी सहानुभूति के साथ कहा.

रंधनीघर से बुधवारा सब सुन रही है. कुढ़ रही है. भूत-प्रेत पर उसे बचपन से ही विश्वास नहीं है. . . पर यहां के लोगों को वह कैसे समझाये—बड़ी उलझन में फंस गयी है. फिर भी भात का मांड़ फेंकने के बहाने बाड़ी में गयी और अपनी सास से बोली, "किसी को गाली देकर काहे मुंह खराब करती हो दाई. नानकुन को टोनही नहीं, बीमारी पकड़ी है. चाहे डाक्टर को यहां बुला लाओ या मरीज को डाक्टर के पास ले जाओ. तब ठीक होगा नानकुन." फिर बुधवारा ने मांड़ फेंका और रंधनीघर में लौट आयी.

लौटते समय बुधवारा ने सुना, मनटोरा काकी की आदत के बारे में उसे पता है—मुंहटेढ़ा करके हाथ मटका के बोली होगी, "नई माने. . . नई मानें. अब के लड़का-लड़की अपना ही हांकते है, तथा कहते हैं न. . . मैट्रिक मेटागे, बीए बयागे, ए दाई आगे की मैं भूल गयी." मनटोरा काकी हंसने लगी.

"पर बहू तो आठवीं पास है जी!" सास ने चटखारा लिया.

"तभी तो कहती हूं दीदी! आठवीं पास में इतना पन है, जो मैट्रिक-सेट्रिक होती तो सरग में चलती." अब दोनों खिलखिलाकर हंस पड़ीं.

बुधवारा के सुझाव के प्रति अविश्वास प्रकट करते हुए मनटोरा बोली, "अब तुम्हीं बताओ न दीदी! क्या झूठ है? खुद हमार घर के देखे हैं. . . तलाब पास इमली का पेड़ है न, उसी में पाली है तलवा पार वाली ने चुड़ैल! अब तो उसके बच्चे भी हो गये है! पिछले फागुन में, पुन्नी के दिन. वो! खेत से बारह बजे रात घर आ रहे थे. सोचे कि तलाब पार से चला जाये—तो क्या देखते हैं! एक औरत अपने बाल फैलाये लड़के को सेंक रही है. बच्चा कैंहोर. . . कैंहोर. . रो रहा है. 'वे' उल्टे पांव भागे, फिर दूसरे रास्ते से गिरते-पड़ते घर आये. तीन दिन तक बुखार में कल्हरे. जब बैगा ने दीया-बाती किया तब जाकर ठीक हुए. यह भी झूठ है, क्या तुम नहीं जानती?"

"मैं सब जानती हूं, मेरे बाल ऐसी ही थोड़े पके है. अपने ही खेत मरघट वाले में रहता है. . . रक्सा-बेताल! रात में कैसे आग जलती-बुझती है. . . बुग्ग. . .बुग्ग. इस पेड़ से उस पेड़. . .फिर उस पेड़ से इस पेड़." बुधवारा की सास ने बात का समर्थन किया. पुनः बोली, "अरे बहू के लिए मैं क्या कम मरी थी. देहरी में पांव धरते ही समझा दिया था, 'देख बहू, गांव की कोई औरत बोले तो जवाब मत देना. . मुझसे सब जलती है.' लाखों में एक पढ़ी-लिखी गोरी सुंदर-सी बहू छांट के लायी हूं न, कान में खिलवां, नाक में फुल्ली, ककनी-पैरी, पहन-ओढ़कर जब बहू खड़ी होती है तो गांववालों के कलेजे में सांप लोट जाता है. . किसी रांड से देखा न गया, तभी तो हमारे दुआरे में नींबू-सिंदूर फेंक गयी थी. . . भला हो बेचारे रामदीन बैगा का, अरे, एक बोतल दारू, एक मुर्गी और एक 'कोरी' रुपया ही तो लिया था. पर वाह रे बैगा. धन्न हो ऐसा मंतर पढ़के बांधा कि आज तक कुछ नहीं हुआ. . अब तो बहू एक लड़के की महतारी हो गयी."

रंधनीघर में काम करती बुधवारा सब सुन-सुनकर कुढ़ी जा रही है. पैर की सांटी हाथ की हरव्या जोर-जोर से बज उठते हैं. उसको कुछ समझ में नहीं आ रहा है. बुधवारा की सास को कुछ याद आया. बोली, "चलूं बहन, बैगा आयेगा तो दीया-बाती बैठायेगा, जगह लीपना है." वह बाड़ी से आंगन में आ गयी. महिला सम्मेलन . . बरखास्त.

बुधवारा की सास का आंगन लीपना समाप्त हो नहीं पाया था कि रामदीन बैगा घर आ धमका. साथ में तिजऊ के बाबा भी थे. जैसे, गुड़ को देखकर न जाने कहां से आकर चीटियां इकट्ठी हो जाती है, उसी प्रकार बिसवार पारा, सतनामी पारा और गोंड़ पारा के सारे लोग आकर उनके परछी में इकट्ठे हो गये. तिजऊ के बाबा ने सबको आदर देकर बैठाया.

अंजोरसिंग ने नानकुन को बैगा को दिखाया और अपनी आशंका व्यक्त की, "देख न भाई! . . परसों डागडरी गोली खिलाये थे फिर भी बुखार आ गया. . 'कस-रहा' है क्या?"

रामदीन बैगा ने नानकुन की नाड़ी छुई और आंख बंदकर धीरे-से गिरगिट की तरह सिर हिलाया. . अर्थात बात बिल्कुल सही है.

"तैं चितामत कर बबा! सब ठीक हो जायेगा, अपना उस्ताद बड़ा गुनी आदमी है. अब देखो न, वो पुलुसवाले की घरवाली को उस्ताद ने झाड़ा-फूंका और जड़ी दिया. . . दो दिन में चंगी हो गयी." बड़े चेले ने बताया. . .

"न. . .जी! पुलुसवाले तो नई माने. . फिर तुम पुलुसवाले के यहां गये थे. . . कैसे रामदीन?" अंजोरसिंग ने अविश्वास प्रगट किया.

"लेनरे, चोंगी जला." बड़े चेले ने छोटे चेले को आदेश दिया. . . . चोंगी का कश लेते हुए छोटे चेले ने बात के सूत्र को आगे बढ़ाते हुए कहा, "अरे बबा की बात! तुम्हारे-हमारे लिए नहीं मानते काहे को. . कि कागद में नहीं लिखा. . .पर मौके में बुलाते जरूर हैं. है कि नहीं उस्ताद!" छोटे चेले ने उस्ताद का समर्थन चाहा.

बैगा ने जमीन पर ठाकुरदेव का आह्वान किया. जमीन में सिंदूर का टीका लगाया, थोड़ी थोड़ी शराब दोनों बोतल से निकालकर जमीन में टपकायी, एक-एक झटके में उसने मुर्गियों की गर्दन चाकू से काट दी और सामने रखे अंगारे में ढेर सारी हवन सामग्री डालकर वह न जाने क्या बुदबुदाते हुए झूमने लगा.

रामदीन बैगा ने बात का उत्तर देना आवश्यक न समझा. वह अंजोरसिंग को आवश्यक निर्देश देते हुए बोला, "दो काली मुर्गी उल्टे पंखवाली और दो बोतल दारू का इंतजाम करो, मूत जरा तगड़ा पड़ रहा है." बुधवारा की सास बिलसिया को देखकर उसे कुछ याद आया, वह बोला, "आंगना लिपागे?. . . हां ठीक! कलसा में पानी, दोना में धान, उसे कलसा पर रखकर सामने चौक पूरो और पीढ़ा बिछाओ." . . आज्ञा पालन को दौड़ पड़ी बिलसिया. .

अंजोरसिंग ने कमर से एक नंबरी नोट निकाला और बड़े चेले को सौंप दिया. नोट देखकर दोनों चेलों की आंखें चमक गयी.

"ए-हे बबा! ए तो सौ वाले बड़े लोट है जी."

"अब पंती से बड़े थोड़ी है." अंजोरसिंग ने दार्शनिक अंदाज में कहा, "जाओ, बैगा के कहे अनुसार सब चीज खरीदकर ले आओ."

बड़ा चेला, जाते-जाते थोड़ा रुका और बोला, "बबा, एक आध तोला गांजा भी ले आयें. . . क्या. . .साथ ही साथ."

"हां. . . हां. . . क्यों नहीं, बैगा के साथ गांववाले भी तो है. . सबको ऐसे ही थोड़े जाने दूंगा. . . ले आओ."

"धन्न हों बबा!" दर्शनार्थी भीड़ के मन से अंजोरसिंग के लिए आशीष निकली.

बुधवारा इस नाटक-नौटंकी से कुढ़ी जा रही थी. वह दूर रहना चाह रही थी, पर सास का आग्रह टाल न सकी.

नानकुन को गोद में लेकर बड़े अनमने मन से पीढ़े पर आकर बैठ गयी.

रामदीन बैगा चुटकी में राख लिये, बुधवारा के सामने गजभर दूर आकर बैठ गया.

वह आंख बंदकर अस्पष्ट स्वर में सिर हिला-हिलाकर मंतर पढ़ने लगा.

"जै महादेव, गौरा-पारबती. . भूतझारौ, बैताल झारौ. . सात कोस

के देवता. . . टोनही टामनी. . . जगफूर मंत्र संचा. . मोर सत गुरु के भाखा. . . फूं. . फूं. . . फूं."

तीन-चार फूंक मारकर उसने बुधवारा के सिर पर पूरी राख उड़ेल दी, फिर ग्रामवासियों की ओर देखते हुए बुधवारा से बोला, "इस मंतर से भूत भाग गया जानो. कहीं बचा होगा तो अब मैं सूपा बैठाता हूं, ध्यान से देखना—दिया में तुमको भूत और उसे लगानेवाली दोनों दिखेंगे, पर घबराना नहीं. जब मैं पूछूं तभी बताना."

उसने जमीन पर ठाकुरदेव का आह्वान किया. जमीन में सिंदूर का टीका लगाया, थोड़ी-थोड़ी शराब दोनों बोतल से निकालकर जमीन में टपकायी. एक-एक झटके में उसने मुर्गियों की गर्दन चाकू से काट दी. अब सामने रखे अंगारे में ढेर सारी हवन सामग्री डालकर—सूपे में धान रखकर हिला-हिलाकर वह न जाने क्या बुदबुदाते हुए झूमने लगा. वातावरण में धुआं फैल गया.

कुछ देर बाद बैगा की जैसे तंद्रा टूटी. उसने बुधवारा से पूछा, "कुछ दिखा. . . . कुछ दिखा."

बुधवारा मौन रही.

"हां. . हां, दिखा हो तो बता देना बहू, डरना नहीं. मैं उस डायन को देख लूंगी," बिलसिया, उसकी सास, बुधवारा को प्रोत्साहित करती हुई स्वयं उत्तेजित हो गयी.

कुछ देर तक बैगा फिर बुदबुदाता रहा. पुनः कुछ तेज स्वर में पूछा, "दिखा!"

"नहीं-ई-ई-ई! नहीं-ई-ई-ई-ई-ई!! बिल्कुल नहीं!!!" अब स्थिति उसके लिए असह्य हो गयी.

. . . तांत्रिक क्रिया समाप्त करते रामदीन बैगा ने जनता के समक्ष गर्वोक्ति की, "चिंता मत कर बहू! शाम तक तेरा लड़का ठीक हो जायेगा."

गांववाले सब समझ गये, पर बुधवारा की समझ में कुछ नहीं आया. हां, उसके चेहरे पर क्रोध और झल्लाहट के मिले-जुले भाव आ-जा रहे थे—फिर भी वह मौन रही.

बुधवारा को अप्रभावित देख बैगा उत्तेजित हो उठा. उसने जनता को लक्ष्य कर बुधवारा को सुनाते हुए पुनः कहा, "शाम तक लड़का चंगा न हुआ तो मेरा सिर हाजिर. काट देना रे! समझी! . . पर इस जड़ी को पानी में घिसकर जरूर बच्चे को पिला देना." बुधवारा को हिदायत देते हुए बैगा उठ खड़ा हुआ.

बार-बार की गर्वोक्ति सुन झल्लायी बुधवारा की आंखों में एक चमक कौंध गयी—निर्णय की चमक!

पीढ़े से उठते हुए उसने अपनी वाणी में जरूरत से ज्यादा शहद घोलकर कहा, "बैगा बाबा, हमारे कुल देवता में भी कुकरी के खून का टीका लगा दो न, कुल देवता भी. . ."

बैगा खुश. . अब बात बनी, वह बोला, "अरे हां-हां, देशरीति और क्या-क्या होता है रे?"

"उस्ताद कुल रीत." बड़ा चेला चिल्लाया.

"हां-हां बैगा. . .कुल रीत मानना ही चाहिहए, चलो कहां है देवघर."

रामदीन बैगा खुशी-खुशी बुधवारा के पीछे चल पड़ा. वह दरवाजे पर आकर खड़ा हो गया. उसने गर्व से जनता की ओर देखा तथा विजेता की तरह देवघर में घुसा.

जैसे ही रामदीन देवघर में घुसा, बुधवारा ने देवघर के किवाड़ लगाकर कुंडी चढ़ा दी. इसके पहले कि हो-हल्ला मचे, वह घर के अंदर दौड़ गयी. उसने देवघर में एक ताला लाकर जड़ दिया.

"दरवाजा खोलो. . . खोलो दरवाजा." बैगा लगातार दरवाजा पीट रहा है.

"देखो. . . देखो, दौड़ो-दौड़ो!". . . गांव में कुहराम मच गया बुधवारा के तेवर देख गांव वाले डर गये.

चंडी रे. . रण चंडी. छात-छात दुर्गा, है किसी में साहस जो समझाये उसे! जो भी उसके पास जायेगा. . मरेगा. पक्की बात. हाथ में कुल्हाड़ी लिये गुस्से में थर-थर कांपती बुधवारा घूम रही है, बिफरी शेरनी चीख रही है, "गांव वालो, सुन लो. . . नानकुन यदि शाम तक ठीक नहीं हुआ तो इस कुल्हाड़ी से बैगा की बली दे दूंगी, बाद में जो होगा देखा जायेगा."

बुधवारा ने रंधनीघर में जाकर बर्तनों को उलट-पलट दिया. खाने के बर्तनों पर अपना गुस्सा निकालते हुए पुनः चिल्लायी, "ठीक होने दो नानकुन को, सबको खीर खिलाऊंगी, तस्मई-पूड़ी, तब तक घर से सब निर्जला रहो."

आंगन में मतवार बनी घूम रही है बुधवारा, कपड़ों का भी होश नहीं.

अब देवघर से बैगा के रोने की आवाज आ रही है, "दाई रे. . ददा रे. . . कोई बचावारे गो. . ओं."

फिर अनुनय-विनय, "छोड़ दे मोर दाई. . छोड़ दे. . . आज छोड़ दे. . .अब से मरे जो तोर दरवाजा आवे."

"सरग से लौटकर कोई आया है रे बैगा! जो तू ही आयेगा. . ." चीख पड़ी बुधवारा.

बबा और बिलसिया दोनों घबरा गये. थाना पुलुस उनको एक साथ दिखने लगा.

बिलसिया, तिजऊ, तिजऊ के बाबू को बुलाने सीधे खेत की दौड़ी.

. . . घबरायी हुई बिलसिया खेत जा पहुंची. उसने सारी बात तिजऊ और उसके पिता को बतायी और उनसे घर चलने का अनुरोध करने लगी.

घटना सुनकर तिजऊ के पिता ने गंभीरता से निर्णय लिया कि अब डाक्टर बुलाये बिना काम नहीं चलेगा.

उन्होंने तिजऊ की मां से पूछा, "कल जो धी बिका था उसका पैसा कहां है?"

"तुम्हारे कुर्ते में तो रखा है." बिलसिया ने रुआंसे स्वर में उत्तर दिया.

"तब ठीक है." आश्वस्त होकर तिजऊ के पिता डाक्टर बुलाने शहर चले गये.

बात सुनकर बनिहारों को बहुत मजा आया तथा दुख भी हुआ. गांव में इतनी बड़ी बात हो गयी और वे खेत में. बनिहारों ने एक-दूसरे को देखा, उनके हाथ जल्दी-जल्दी रोपा लगाने लगे. रोपा का काम जल्द निपट गया. बनिहार गांव की ओर गिरते-पड़ते भागे.

बनिहारों की हड़बड़ी देख तिजऊ मुस्कुराया. उसने सोचा, घर जाकर बुधवारा को समझाया जाये. . क्या कर बैठी वह?

तिजऊ ने खेत से निकलकर जैसे ही घर की ओर कदम बढ़ाया कि वह क्या देखता है. . . हिंदुस्तान की उन समस्त बहुओं की आत्माएं-जिन्होंने स्टोव फटने से अपनी जान गंवायी थीं, आकर, घेरकर खड़ी हो गयीं और गुस्से में उससे कहने लगीं :

"खबरदार! जो घर गया."

बिचारा तिजऊ डर गया. □

प्रमोद कुमार ब्रह्मभट्ट का जन्म 1963 में हुआ. वे द्वारिकाप्रसाद विप्र महाविद्यालय, बिलासपुर (म.प्र.) के बी. ए. द्वितीय वर्ष के छात्र हैं. उनका मानना है कि "अभी तक कहानी में लिखा है कि हम कैसे रोते हैं. मैं लिखता हूं—हम कैसे हंस सकते हैं.'

प्रोत्साहन पुरस्कार : एक

लहरों का द्वंद्व

राजेश श्रीवास्तव

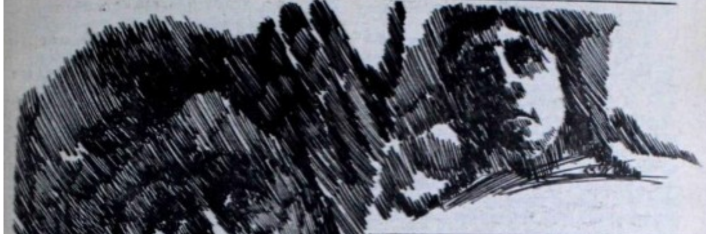

कभी-कभार आदमी इतना परेशान क्यों हो जाता है कि वह अपना आपा ही खो बैठता है . . .? क्यों वह नहीं समझ पाता कि उसे क्या करना चाहिए! युवा मन की गहराइयों का एक आकलन—

अंधेरा गहरा होता जा रहा है लगातार. दूर होता कोलाहल भी अब शांत होने लगा है. आसपास का सन्नाटा गहराता हुआ, झींगुरों की आवाज के साथ भयावह वातावरण उत्पन्न करने लगा है. किंतु मैं अब भी यहीं बैठा हूं, नदी के किनारे पक्के बुर्ज पर, अकेला. पानी की लहरें छपछपाकर आती हैं और बुर्ज से टकराकर एक अजीब-सी आवाज कर, अजीब-सा द्वंद्व उत्पन्न कर लौट जाती हैं वापस दूर तक. हवा के झरोखे सांय-सांय कर रहे हैं बालों से खिलवाड़ करते. लहरें चमक रही हैं अंधेरे में भी. अंधेरा गहरा होता जा रहा है लगातार. किंतु धरती और आकाश के संगम पर हल्की लाली अभी भी विद्यमान है.

लोग कहते हैं—एकांत में बैठकर शांति मिलती है. लेकिन मुझे. . . जब-जब मैंने चाहा है, तब-तब मेरी उलझन बढ़ती ही गयी है. मेरा द्वंद्व लहरों की तेजी के साथ हरदम तेज होता गया है. लहरें आकर बुर्ज से नहीं, बल्कि मेरे मस्तिष्क से टकराती हैं और मेरे मन में चल रहा द्वंद्व बढ़ता जाता है लगातार.

काका कहते हैं कि आदमी की हर परेशानी का एक हल होता है, लेकिन हल इतनी आसानी से नहीं मिलता. उन्हें ढूंढने के लिए परिश्रम करना पड़ता है. शारीरिक नहीं, मानसिक. और उस परेशानी के मूल तक पहुंचना पड़ता है. मैं अक्सर अपनी परेशानी के मूल को ही ढूंढने की कोशिश में नदी के किनारे आता हूं. यहां कुछ मिलता तो नहीं, लेकिन जब लौटता हूं तो ऐसा जरूर लगता है कि खाली नहीं हूं.

काका मेरे एक दोस्त के पिता हैं. . . न जाने क्यों मैं भूल जाता हूं! यह बात सोचते ही मेरा हृदय कांप उठता है. काका अब पिता नहीं हैं. . . उसका नाम बालू था, बालमुकुंद. मेरा बहुत अच्छा दोस्त था. आर्थिक परेशानियों के बाद भी उसने बी. ए. किसी न किसी तरह कर लिया था. ट्रैक्टर उलटने से उसकी मौत हुई. काका के सारे सपने जलकर राख हो गये इसी नदी के किनारे, जहां मैं बैठ जाता हूं अक्सर.

बालू कहता था—दुनिया में जीने के लिए दो चीजें जरूरी हैं. . . ईमानदारी और मेहनत. ईमानदारी से भगवान खुश होता है और मेहनत से दुनिया. कभी तो बहुत ही गहरी-गहरी बातें किया करता था वह. मार्क्स की, ताल्स्तॉय की, लेनिन की, गांधी की. ढेर-सी पुस्तकें पढ़ रखी थीं उसने. लायब्रेरी में कौन-कौन-सी पुस्तकें हैं, बालू को मालूम था. रूसी क्रांति, गरीबों की लड़ाई आदि पर उसने विद्वानों के विचार तो पढ़ ही रखे थे, अपने मौलिक विचार भी कम नहीं थे. बात इतिहास तक ही नहीं रुकती, 'वर्तमान' में भी उसका गंभीर चिंतन था.

मैं उसकी अधिकांश बातों को नहीं समझ पाता था, चेष्टा करने के बाद भी और कभी-कभी समझना भी नहीं चाहता था. लेकिन मुझे ऐसा महसूस जरूर होने लगा था कि उसकी बातों का एक अर्थ हुआ करता है. वह समझ में भले ही न आता हो, लेकिन बात में गहराई जरूर है. जब अन्य दोस्त सड़कों या नुक्कड़ों पर खड़े पान चबा रहे होते, तब वह मुझे राजनीति और दर्शन जैसे गूढ़ विषयों की बातें समझाने का प्रयत्न करता था. कभी मुझे बोरियत भी होती, किंतु कहीं मेरा हृदय मुझे मजबूर करता था उसके साथ रहने के लिए. चौराहों पर लड़कों के झुंड पास से गुजरती किसी लड़की पर जब फिकरे कसते, तब बालू मुझसे कहता था, "हमने सन् सैंतालीस के बाद जन्म लिया है. स्वतंत्रता हमारा अधिकार है और हम स्वतंत्र हैं अपने अधिकारों का किसी भी तरह उपयोग करने के लिए." उसका इशारा झुंड की ओर होता था.

ओह . . फिजूल ही बालू को याद कर बैठा. मैं बेचैन हो उठता हूं. उसके विचारों का मुझ पर गहरा असर हुआ है. उसके साथ बिताये क्षण मेरे लिए उपयोगी साबित हुए हैं. मैं उन्हीं यादों को अक्सर दोहराया करता हूं. किंतु बालू का अभाव मुझे कहीं गहरे तक चोट पहुंचाता है. मैं उसे भूल नहीं सकता. उसकी अपनी जिंदगी कितनी व्यवस्थित थी और मेरी जिंदगी. . . मैं लगातार अव्यवस्थित होता जा रहा हूं.

पिताजी मुझसे बहुत परेशान हैं. उनकी शिकायत है कि मैं अपनी धुन में रहता हूं, घर की जिम्मेदारियों को नहीं समझता. इस बात को लेकर वे आये दिन मुझे फटकारते रहते हैं. मैंने अपने-आपको संभालने की, बांधने की बहुत कोशिश की. मुझे खुद लगता है कि मैं कहीं न कहीं से अधिक स्वतंत्र हो गया हूं. अधिक स्वतंत्रता बरबादी की ओर ले जाती है, यह मैं महसूस करने लगा हूं. लेकिन मेरी धुन क्या है? मैं क्या करना चाहता हूं? मेरी परेशानी क्या है? और वह कौन-सा द्वंद्व है जिससे मैं पीड़ित रहता हूं? लगातार सोचता रहा हूं मैं. काका, पिताजी, मां, भाई, दोस्त सभी मुझ पर आरोप लगाते हैं. मैं भी हर एक पर आरोप लगा सकता हूं. लेकिन इससे समस्या का हल नहीं मिलता. मन चाहता है कुछ करूं. सोचता हूं, क्या करूं? कुछ समझ में नहीं आता. मन में काम करने की तेजी है. कुछ सोचता हूं, करने बैठ जाता हूं. मन नहीं लगता, उठ जाता हूं. फिर सोचता हूं क्या करना है? इतना जानता हूं, कुछ करना है. समस्या बढ़ती जाती है. तब चला आता हूं इस नदी के किनारे पक्के बुर्ज पर. फिर सोचता हूं. सोचता ही जाता हूं. . .

जब मुझे लगता कि मैं किसी भी बात को बहुत ज्यादा सोच गया हूं और अब लौटने की आवश्यकता है, तब नदी में कंकड़ उछाल दिया करता हूं. लहरों के शोर में यदि कंकड़ और पानी के टकराने से कोई स्वर उत्पन्न न होता हो तो भी बिखरती हुई लहरों से विचारों की शृंखला टूट जाती है. यूं तो विचारों की शृंखला तोड़ना बड़ा मुश्किल है कम से कम मेरे लिए, मेरी परिस्थितियों में. पर कंकड़ उछालने में हृदय से पूछने की आवश्यकता नहीं होती. केवल मस्तिष्क काम करता है. लेकिन समय तेजी से बीतता जाता है. कंकड़ से उत्पन्न लहरें जैसे ही शांत होती, वैसे ही एक नया चेहरा उत्पन्न होने लगता है पानी में. मैं फिर सोचने लगता हूं. . . यह चेहरा कुछ पहचाना-सा लग रहा है. कौन है यह? लहरें थमती जाती हैं. . . चेहरा स्पष्ट होता जाता है. . .

यह दीपा है. इसके बारे में ज्यादा कुछ न कहकर यह कह देना भर काफी होगा कि मेरी परेशानियों का जो भी थोड़ा-बहुत बोझ हल्का हुआ है या हल्का होना चाहता है, वह दीपा की वजह से. दीपा मेरी दोस्त है, मेरे साथ पढ़ती है. उसके पास विचार हैं, तर्क हैं. उसकी बातें मुझे अच्छी लगती हैं. उसे भी मुझसे लगाव है. उसे और किस-किससे लगाव है, यह बात मेरे लिए उतनी महत्वपूर्ण नहीं है.

दीपा मेरी अच्छी दोस्त है, पिताजी की भी, मां की भी और मेरे दोस्तों की भी. अच्छे दोस्त होने के बाद भी हमारे विचारों में असमानता है और हमारी बातचीत बहस का रूप ले लेती है. मुझे इससे फायदा ही होता है और इसलिए मैं कहता हूं कि मेरी परेशानियों को थोड़ा-बहुत बांट देने में, कम कर देने में सक्षम है दीपा.

कह रही थी, "गरीबों को अब जबकि अपने हक के लिए लड़ने का अधिकार प्राप्त हो चुका है, जन जीवन में जागृति आ चुकी है, उसे समय का पूरा फायदा उठाना चाहिए."

मैंने कहा, "हां, उठाना चाहिए."

वह कहती है, "नहीं, हमारे तुम्हारे ऐसा सोच लेने से मसला हल नहीं होता. गरीबों को इतना प्रताड़ित किया जा चुका है कि वे आज भी आगे आने से डरते हैं. ऐसे में बुद्धिजीवियों की भूमिका और बढ़ जाती है."

मैं न जाने क्यों परेशान था. इसीलिए बहस नहीं कर पा रहा था. वरना कहता कि बुद्धिजीवियों ने तो हर युग में गरीबों के हित में सोचा है. लेकिन सोचने से क्या होता है? ताकत तो तानाशाहों की मुट्ठी में कैद है. वह लगातार बोले जा रही थी. मैं उसकी बातें सुन रहा था, लेकिन मेरा ध्यान कहीं और था. मैं सोच रहा था कि आज उस गरीब को पिटते देख मैं चुप क्यों रहा? बिना कारण ही अपने दोस्त से क्यों उलझ बैठा? मैं क्या चाहता हूं इस सबसे?

दीपा कह रही थी, "यूं साहित्यकारों ने इनके उत्थान के लिए क्या कुछ नहीं किया. लेकिन मैं तुम्हारी बात करना चाहती हूं. तुम अपनी कहानी, कविताओं में जो लिखते हो उसका मतलब मेरी समझ में नहीं आता. अपना दुख, अपनी परेशानी बस, और कुछ नहीं है तुम्हारे पास लिखने को? तुम इतने सीमित दायरे में क्यों रहते हो? और आखिर इससे मिलेगा क्या? दुनिया में और भी बहुत-सी बातें हैं."

"दीपा, मैंने यह कभी नहीं चाहा कि मैं अपने तक ही सीमित रहूं. लेकिन यह बिल्कुल सच है कि मैं सिवाय अपने किसी के बारे में कुछ भी नहीं कह सकता. या यूं समझ लो कि कहना नहीं चाहता. मैं ब्रह्म की खोज नहीं कर रहा हूं, मुझे कुछ मानव मूल्यों की तलाश है. जब तक मैं अपनी जिंदगी के बारे में तटस्थ नहीं हो जाऊं, किसी के बारे में कोई भी वक्तव्य देना बेमानी होगा."

शायद बात आगे भी चलती किंतु भाई ने आकर हमारे वार्तालाप को समाप्त कर दिया. दीपा के विचारों और तर्कों से मेरे मन में ढेर से प्रश्न उठ खड़े होते हैं और उन्हीं को लेकर एक तेज द्वंद्व होने लगता है मेरे अंतर में. और सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि मेरा अंतर्द्वंद्व अपने ठीक उसी रूप में मुझ पर हावी हो जाता है. छोटी-छोटी बातें मुझे बहुत बड़ी और डरावनी लगने लगती हैं. मैं प्रत्येक बात में अर्थ खोजना चाहता हूं. कभी मुझे लगता है कि मैं जरूरत से ज्यादा ही सोच रहा हूं. मेरा द्वंद्व निरर्थक है. लोगों को भ्रमित कर रहा हूं. लेकिन सच यह है कि मैं परेशान हूं और हल ढूंढने की कोशिश में हूं. यह पानी की लहरों से झांकनेवाला चेहरा दीपा का ही है.

हवा तेज और अधिक ठंडी हो गयी है और अब तो चांद भी निकल

तर्क

भगवती प्रसाद द्विवेदी

तकरीबन एक सौ वर्ष पूर्व की घटना है. फ्रांस की सैनिक अदालत में स्त्री-पुरुषों की भीड़ देखते ही बनती थी. वजह यह थी कि आज एक मशहूर मुकदमे का फैसला होने वाला था. कैदी कटघरे में खड़ा था. आज उसके भाग्य की परीक्षा का आखिरी दिन था. मन-ही-मन वह आशंकित था, यह सोचकर कि यदि कहीं वह मुकदमा हार जायेगा तो क्या होगा?

कई दिनों से यह मुकदमा चर्चा का विषय बना हुआ था. इसका एकमात्र कारण यह था कि अभियुक्त ने एटार्नी लुइस बर्नार्ड को अपना वकील नियुक्त किया था और आज तक का यह इतिहास रहा था कि जिस मुकदमे में उन्होंने पैरवी की, उनके मुवक्किल को विजयश्री जरूर हासिल होती थी. आज यह उनका पहला मुकदमा था, जब लोगों को जीत पर संदेह हो रहा था.

आखिर सभी को जिस बात की आशंका था, वही हुई. न्यायाधीश ने कैदी को फांसी की सजा सुना दी. सभी लोग अवाक् रह गये.

तभी एटार्नी के दिमाग में एक बात आयी और उन्होंने अदालत से निवेदन किया कि वे फ्रांस के राजा के सम्मुख अपील करना चाहते हैं, राजा उन दिनों राजधानी से बाहर थे और पांच दिनों के बाद ही वापस लौटनेवाले थे, अतः एटार्नी ने अदालत से पांच दिनों की मोहलत मांगी और राजा के आने तक प्रतीक्षा करने का आग्रह किया.

न्यायाधीश ने एटार्नी की प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया. अब उन्हें कैदी को बचाने का कोई रास्ता नजर नहीं आ रहा था. फिर भी उन्होंने अदालत से प्रार्थना की कि उन्हें अपना तर्क रखने की अनुमति प्रदान की जाये. और संयोगवश जूरी ने एटार्नी को आज्ञा दे दी.

फिर क्या था! एटार्नी ने अपने तर्क को न्यायसंगत ठहराने के लिए दलीलें देना शुरू कर दिया. उन्होंने दुनिया की तमाम नियमावलियां, जो उन्हें जबानी कंठस्थ थीं, जूरी के सम्मुख प्रस्तुत कीं. देश-विदेश के अनेक संदर्भों का हवाला देते हुए उन्होंने लगातार एक सौ बीस घंटे तक अपना तर्क जारी रखा और अदालत में उपस्थित तमाम लोगों को स्तब्ध कर दिया.

पांचवें दिन के पश्चात, जब एटार्नी का तर्क अभी जारी ही था, राजा राजधानी में वापस लौट आये, एटार्नी लुइस बर्नार्ड की विलक्षण प्रतिभा ने उन्हें भी हैरत में डाल दिया. इस प्रतिभा के जादू के वशीभूत हो, राजा ने न सिर्फ कैदी को क्षमादान दिया, बल्कि उन्होंने एटार्नी की सूझबूझ, बुद्धिमत्ता तथा स्मृति की भूरि-भूरि प्रशंसाकर उन्हें सम्मानित भी किया. □

आया है पहाड़ों के पीछे से. ये लहरें अब और भी अधिक चंचल हो उठी हैं. न, अब और आगे बिलकुल भी नहीं सोच सकता. ये हिलती हुई, पास आती हुई नमकीली लहरें मुझे बिलकुल नहीं सोचने देंगी. मेरा द्वंद्व वहीं रहेगा उसी रूप में. नदी के पास इस बुर्ज पर न जाने कब तक आता रहूंगा? और जाने कब पहुंचूंगा किसी निष्कर्ष पर. न. . . ये लहरें और हवा के थपेड़े मुझे यहां बैठने नहीं देंगे. मुझे उठना ही होगा. . .और उठने से पहले मैंने याद किया. . . आज फिर वही सब याद आया जो हमेशा आता है. . . पर नहीं. . . आज कुछ देर हो गयी, शायद लेट आया था. . . नहीं. . . खैर जो भी हो मुझे लौटना होगा, लौटना ही होगा!

रास्ते में रघु मिला. बोला, "तुम यहां घूम रहे हो, वहां पिताजी तुम्हें ढूंढ रहे हैं. किसी का तार आया है, जाओ." मैं लगभग दौड़नेवाली चाल में शीघ्र पहुंचने की कोशिश करता हूं. . . किसका तार आ सकता है और कैसा? कहीं परेल से तो नहीं? या फिर भोपाल से आया हो? और कहां से आ सकता है? मेरे रिश्तेदार-परिचित जहां-जहां रहते हैं सबके बारे में सोच गया मैं. शायद नाना के यहां से आया हो. . . कोई रहा न हो! मुझे और तेज चलना होगा.

मां कह भी रही थी कि नाना-नानी की तबीयत अब ठीक नहीं रहती. कब से उनके पास जाना चाह रही है. कहीं ऐसा न हो कि. . . हो सकता है मेरे किसी दोस्त की शादी हो या उसकी बहन की. . . हां, कहीं सुधा की तो नहीं? विजय कह रहा था कि उसकी शादी की बात चल रही है ग्वालियर में. लेकिन उसके लिए तार की क्या आवश्यकता थी? शायद पूना से. . .

मैं घर के निकट पहुंचा ही था कि मां के रोने की आवाज सुनायी पड़ गयी. एक क्षण को मैं स्तब्ध रह गया. फिर धीरे-धीरे अंदर की ओर बढ़ा. पड़ोस की दो महिलाएं भी वहीं बैठी थीं, किंतु मां को ढांढस नहीं बंधा रही थीं, न ही उनकी आंखों में आंसू थे. हां उदासी जरूर थी.

भाई से मालूम हुआ कि नानी नहीं रहीं. मुझे दुख तो हुआ लेकिन परेशानी और अधिक बढ़ गयी. न जाने क्यों? सुबह वाली गाड़ी से मां और पिताजी सागर चले गये. भाई को छुट्टी नहीं मिली, साथ ही उन्हें टूर पर भी जाना पड़ गया. घर पर मैं ही बचा. दो दिन तक घर में ताला लगाने की इच्छा नहीं हुई. किताबों में उलझा रहा. मेरे एक दोस्त हैं, उनकी बहुत बड़ी लायब्रेरी है. उनके घर जब भी जाता हूं कोई न कोई उपन्यास या कविता संग्रह उठा लाता हूं. अच्छा कवर देखकर या मशहूर नाम देखकर. दो-चार पन्ने उलटकर उसे रख देता हूं. और उसे वापसकर दूसरी ले आता हूं. भाव ऐसे ही रहते हैं, मानो पूरी पुस्तक का गंभीर अध्ययन किया हो.

इन दो दिनों में दो उपन्यास मैंने पढ़े. इस बात का मुझे आश्चर्य था. मैं उपन्यास की कथा को भली-भांति समझ गया था. एक कविता संग्रह भी पलटा. उसकी कविताएं पूरी पढ़ीं. बहुत कम समझ में आयी. मेरे साथ अक्सर ऐसा होता है कि कविता पढ़ते ही तीव्र इच्छा होती है कि मुझे भी कविता लिखनी चाहिए. और फिर लिखने बैठ जाता हूं. कभी अच्छी भी लिखी जाती है. लेकिन मैं जानता हूं, मेरी समझ कितनी उथली है!

. घर पर मां और पिताजी होते तो शायद चैन से नहीं बैठ पाता. वे कुछ न कुछ कहते-बोलते रहते हैं, इसलिए एक अजीब-सी घबराहट होने लगती है. मैं कुछ सोच रहा हूं. उस समय कोई भी कुछ बोले, यह मुझे अच्छा नहीं लगता. मैं टोक देता हूं तो यह भी मेरी कमजोरी मानी जाती है. घर पर रहकर या तो मैं व्यस्त रहना चाहता हूं अथवा शांत. शांत कभी रह भी सकूंगा या नहीं यह नहीं जानता. इसलिए व्यस्त रहना चाहता हूं.

खट-खट-खट! यह दरवाजे पर दस्तक थी. अशोक आया था. मुझे पिक्चर ले जाना चाहता था. मैं मना करना चाहता था किंतु गया. लौटकर कुछ करने की इच्छा नहीं थी. सो गया. अगले दिन उठा तो फिर वही दिनचर्या. पर आज मैं खुश होना चाहता था. स्कूली सर्टिफिकेट के अनुसार आज मेरा जन्मदिन था. अपने जन्मदिन की खुशी में मैंने बाहर होटल में खाना खाया, किंतु शाम को नदी के किनारेवाले बुर्ज पर जाने से खुद को नहीं रोक सका. आज मुझे मालूम हो गया था कि मैं कितना कमजोर हूं. लेकिन आज खुश हूं. लगातार पानी में कंकड़ उछाले जा रहा हूं. आज लहरें स्थिर हैं. लहरों का द्वंद्व शांत है. न जाने क्यों! . . . □

● राजेश श्रीवास्तव शासकीय नर्मदा महाविद्यालय, होशंगाबाद के सारिका कहानी मंच के संयोजक भी हैं.

अखंडित इंद्रधनुष

राजेश सिंघई

रोहित की शीट ने मुझे अकस्मात दीपक की याद दिला दी. शीट के स्पष्ट लाइन-वर्क, उपयुक्त विवरण एवं स्वच्छता ने दीपक की शीट को आंखों के सामने रख दिया. उस वक्त कहीं अनंत सागर में से उस एक अकेली जिंदगी की याद हो आयी जिसे कभी कोई मैडल, कोई शील्ड, कोई कप, कोई अलंकरण नहीं मिला. अनाम-असम्मानित रहते हुए एक दिन वह रोशनी के दायरे की दहलीज पर सिर पटक-पटककर दम ही तोड़ देता यदि उसकी काबीलियत पहली दुनिया के लोग न समझते तो.

वह सरल एवं भोला चेहरा जब इस कालेज में आया था, कितना अनजान था इस स्वार्थी दुनिया से. न बोलना, न हंसना. बस, चुपचाप बैठा रहता था. दूर-दराज से अपने घरों को छोड़कर नये माहौल में आये किशोर हृदयों के समान न उसमें चपलता थी न वाचालता. क्लास में आगे बैठकर ध्यान से लेक्चर सुनना, लेखकों की तरह लेखनी चलाना एवं दार्शनिकों की तरह मनन करना, यही उसकी दिनचर्या थी. चिंतनरता की मूर्ति बनकर शिक्षक के ज्ञान-कण को ज्ञान-सागर के रूप में लेता था. उसके अत्यंत आकर्षक व्यक्तित्व आत्मविश्वास, व्यवहार कुशलता से मेरे अन्य साथी भी प्रभावित थे. उसका सर्वोपरि गुण उसकी स्नेहशीलता एवं आदरभाव था.

उसके सिर्फ दो ही शौक थे, चित्रकारी एवं कहानी लिखने का. मुझे कहानी-प्रतियोगिता का वह क्षण याद आता है जो महज एक असहज अनुभूति है, जिसमें ग्लानियां जुड़ी हुई हैं. अपराध-बोध जुड़े हैं. किसी के प्रति वफादार न रह पाने की स्वीकारोक्ति न कर पाने की छटपटाहटें और तिलमिलाहटें जुड़ी हैं. प्रथम पुरस्कार पाने का हकदार वस्तुतः दीपक ही तो था परंतु प्रिंसिपल साहब किसी और को देना चाहते थे. याद आती है मुझे उसकी कहानी 'मां' की वे पंक्तियां जो आपके व हमारे अंतर्मन का कितना सुंदर निचोड़ है—'मां, मैं जानता हूं तेरे मन में मेरे विछोह से तीव्र वेदना होगी. मस्तक में आंधी-तूफान होगा, आंखों से आंसुओं की बरसात हो रही होगी. तू मेरे विछोह, जिसमें भविष्य की सुखद अनुभूति छुपी है, अवश्य तू उस सुख के कंटक-शयन में विकल होगी. परंतु साथ-साथ तुझमें जो गर्वीला अहसास है वह मुझे सांत्वना प्रदान कर रहा होगा. देखो, यह कैसी विडंबना है कि पृथ्वी यकीनन जो निर्जीव है और जो सूर्य से ही उत्पन्न हुई है, सूर्य के चारों ओर चक्कर काटती है. पृथ्वी का सूर्य ही सब कुछ है. सूर्य भी पृथ्वी को पाल-पोस रहा है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार तू मुझे. हां मां, जब निर्जीव वस्तुओं में इतना गहरा गूढ़ सत्य छुपा है तो जीवित में क्यों नहीं? तू और मैं भी उसी अदृश्य शक्ति से जुड़े हैं जिस प्रकार सूर्य-पृथ्वी, पृथ्वी-चंद्रमा! कितना निष्कपट एवं जबरदस्त इशारा है प्रकृति का."

उसकी भाषा शैली में कितना वात्सल्य रस था मानो अंतर्मन व्यथित होकर मजबूरी के आंसू बहा रहा हो. परंतु उस निष्ठुर प्रिंसिपल पर इन उद्धरणों का कुछ असर न हुआ. मुझे मजबूरन उनके प्रतियोगी को प्रथम घोषित करना पड़ा.

उसके पिताजी एक छोटे-से कस्बे में पोस्टमैन थे. कभी वे मेरे साथ बी. एस-सी. प्रथम वर्ष में अध्ययन करते थे. उसके बाद मैं इंजी-

हमारे देश की प्रतिभाएं निरंतर पश्चिम की तरफ ही उम्मीदभरी निगाहों से ताकते रह जाने को मजबूर क्यों होती जा रही हैं? क्या वजह है कि अपने देश से जाने के बाद कई लोग अचानक 'देश का गौरव' हो जाते हैं, मगर देश में रहते हुए वह अनाम और अनजान ही बने रहते हैं?—तीसरी दुनिया की इसी विडंबना को रेखांकित करती कहानी.

नियरिंग में हो गया और उन्होंने पढ़ाई छोड़ दी. कुछ वर्षों बाद पता चला कि वे पोस्टमैन हो गये. तीन पुत्रियों एवं दो पुत्रों का बोझ ले किसी तरह घिसट रहे थे. भाग्य से उसका बड़ा पुत्र दीपक होशियार निकला जो कालेज में पढ़ने लगा. बेचारे की कमर दो लड़कियों की शादी में तो टूट ही चुकी थी. पर वह परिश्रमी था. वह ओवर-टाईम करके तथा पत्नी कपड़े सी-सी कर अर्जित धन से दीपक को कालेज में पढ़ा रहे थे. गरीबी के इस महौल में रहकर दीपक में पूरे हीरे के मौजूद गुण थे.

परंतु यहां हीरे के पारखी जो गुरू की चादर ओढ़े है यानी कि जिनको कालेज के उच्च लोक में इंद्र का सिंहासन प्राप्त है, उनका उल्लेख करना बहुत आवश्यक है. श्री भारद्वाज कालेज में सिविल के विभागाध्यक्ष हैं. उनका एकमात्र पुत्र योगेश भी दीपक के साथ-साथ सिविल अंतिम वर्ष में अध्ययनरत है.

फाइनल परीक्षा हो चुकी थी. सब विद्यार्थी परीक्षाफल के इंतजार में दिन काट रहे थे. छब्बीस जून को परीक्षाफल घोषित हुआ. आप जान गये होंगे कि टॉप किसने किया यानी... श्री योगेशजी ने. श्री भारद्वाज के अचूक शस्त्र अर्थात् प्रयोगिक अंकों एव सेशनल्स ने दीपक को पूरी तरह भेद दिया. परंतु दीपक थ्योरी में योगेश से तीस नंबर अधिक लेकर द्वितीय स्थान पर रहा. उसने मुस्कराते हुए अपना परीक्षाफल मुझे बताया, मगर उस मुस्कराहट से उसकी तड़प उजागर हो उठी थी. दो विषयों में तो स्वर्ण पदक योगेश को मिले पर एक विषेष में स्वर्णपदक के दो दावेदार हो गये. दीपक और योगेश दोनों के बराबर अंक थे. शायद इस तरफ इंद्रदेव के दूत नहीं पहुंचे पाये अन्यथा इनके बराबर नंबर कैसे हो सकते थे. बेचारा दीपक अपनी दिशाविहीन नाव खुद खे रहा था... और फिर योगेश के पिता के साम्राज्य में खुले शेर से टक्कर ले रहा था. क्या ऐसे में उसकी धज्जियां नहीं उड़ जाएंगी. और हुआ भी ऐसा ही. दीपक फिर चूक गये. इस बार उसकी गलती सिर्फ इतनी थी कि वह इस दुनिया में योगेश से पहले क्यों आ गया. दीपक की उम्र योगेश से ज्यादा थी न, इसलिए योगेश को लाड़ में सोने का तमगा भेंट किया गया. मत रो बेटे, चुप हो जा!

जिस देश में कर्म की पूजा की जाती है उसके प्रत्येक देशवासी को कितना घमंड है अपनी संस्कृति पर! पूरब की संस्कृति... ! पर अब कितना खोखलापन है इन बातों में. धर्म, धन, विद्या के पुजारी, ठेकेदार, उपासक या कहिए विषधर जो अपने विष से इस देश को पतन के गर्त में ले जा रहे हैं. अरे, विद्या का फल तो यह होना चाहिए कि मनुष्य में धैर्य और संतोष का विकास हो न कि स्वार्थपरता, क्षुद्रता और शीलहीनता का भूत सिर चढ़ जाये! दीपक गरीब था, कमजोर था, इसलिए वह लड़ नहीं सकता था. उसके लिए कोई आवाज उठानेवाला नहीं था. विद्या और उम्र का ऐसा तालमेल देखा है.

बेहद अंतर्मुखी होने के कारण दीपक ने कभी किसी के सामने अपना आक्रोश जाहिर नहीं किया. मगर अकेले में मेरे सामने जब भी योगेश का, या योगेश के हर प्रोफेशनल परीक्षा में प्रथम आने का, या उसके अथक परिश्रम के बावजूद द्वितीय रह जाने का जिक्र आता तो उसकी आंखों की चिंगारियों पर से राख हट जाती और उसकी मुठ्ठियां कस जातीं, 'आप देखना सर... कभी न कभी वो चूकेगा ही! इस बार देखता हूं." और हर बार की तरह हारने के बावजूदवह फिर दोबारा जुट जाता. मगर अपनी इतनी मेहनत और मेरी इतनी दुआओं कामनाओं के बावजूद दीपक हर बार हारा. सिविल के विभागाध्यक्ष के सुपुत्र होने की जो चाबी योगेश के पास थी, उससे हर फाटक व ताला बड़ी आसानी से खुल जाता था. हर बार पटखनी खाने के बाद दीपक आहत सांप जैसा फुंफकारता रहता मगर उसकी पीड़ा, उसका रुदन, उस आक्रोश में छुप नहीं पाते थे और हर बार नये सिरे से किये संकल्प की पराजय दीपक को भीतर ही भीतर छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़ती चली गयी.

परंतु इस बार... बादल गरज रहे थे. पहाड़ धसक रहे थे, ज्वालामुखी आग उगल रहे थे पर उसके कान के पास शांति थी, नितांत शांति. सिर्फ उसकी धड़कन, उमंग, उत्साह, जिज्ञासा शोर मचा रही थी. शायद श्री भारद्वाज को उस दिन मालूम नहीं था कि अब दीपक के जीवन में एक और क्रांति का सूत्रपात हो गया था. बहुत-सी ऐसी क्रांतियां होती हैं जो बाहर से नहीं दीख पड़ती हैं, जो अंदर-अंदर सुप्त ज्वालामुखी की तरह क्रियाशील रहती है, वरना आदमी पूर्णतः निःस्व हो जाता है. आदमी को वह क्रिया निःसहाय और निरवलंब बनाकर रास्ते की धूल पर उतार देती है.

यू. पी. एस. सी. में तो टॉप कर सकता था. वहां तो योगेश के पिता नहीं थे. और किया भी उसने. बाहरी तड़क-भड़क को छोड़कर भीषण दरिद्रता में रहकर उसने पैसे जोड़े और नौकरी छोड़कर अमेरिका चला गया, अध्ययन के लिए. मुझसे वह हमेशा कहा करता था, "सर... मेरी इच्छा किसी बहुत अच्छी जगह काम करने की है, जहां रिसर्च की सारी सुविधाएं हों, जहां मैं कुछ हटकर कर सकूं सबसे, जहां कुछ ऐसा एचीवमेंट हो, जिसे मैं अपना कह सकूं!"

जैसे मन की मुराद पूरी हो गयी हो, पेपर में पढ़ते ही रोम-रोम हर्ष और उल्लास से पुलकित हो उठा. लगा जैसे चारों ओर गुलाब और सूरजमुखी के खेत के खेत अचानक बिहंस-खिलकर सुगंध और पराग से गमक-निखर उठे हों. दीपक को उसकी रिचर्स पर अमेरिकी सरकार ने उसे डाक्टरेट से सम्मानित किया. उसने मुझे पत्र लिखकर बताया कि वह वहां के एक अच्छे कालेज में प्रोफेसर नियुक्त किया गया है. और उसकी रिसर्च अमेरिका सरकार के सर्वोच्च पुरस्कार के लिए अनुशंसित की गयी है. और योगेश हूं... एक ठेकेदार!

रोना आता है मुझे देश पर, देशवासियों पर जो ऐसी प्रतिभाओं को निर्दयता से ठोकर मार देते हैं. क्या यही वह भारत है जो संसार के लिए दया, प्रेम, विद्या, स्नेह का द्योतक है. क्या हम उन्हीं ऋषि-मुनियों की संतान हैं जिनके कारण हम अपनी संस्कृति पर गर्व करते हैं. क्या हमें दीपक पर गर्व करने का अधिकार है जिसे हमने दुत्कारा और जो दूसरे देश का वासी बनकर इस देश का नाम ऊंचा कर रहा है?

वह पक्षी जिसके दोनों पर कटे थे, जो आकाश में निर्भीक विचरण नहीं कर सकता था, अब इतनी ऊंची उड़ानें भर रहा है जिसे हम देख भी नहीं सकते. वह इंद्रधनुष जिसे हमने विखंडित किया था, जिसे आज हमारे नभ मंडल में होना चाहिए था, आज अपनी छटा किसी दूसरे देश में बिखर रहा है... अखंडित इंद्रधनुष!... □

● राकेश सिंघई, शासकीय अभियांत्रिकीय महाविद्यालय. जबलपुर में बी.ई. (इलैक्ट्रानिक्स एवं दूर-संचार) तृतीय वर्ष के छात्र हैं.

मेरा एक दोस्त ऐसा है

जिया मुसव्विर खान

टेलीग्राम था : कम डेल्ही, इनआग्युरेटिंग भाटिया ट्रांसपोर्ट कंपनी आन सेवेनटींथ– भाटिया.

चिट्ठी चौथे दिन मिली, इन्वीटेशन कार्ड के साथ. 17 को ज्यादा दिन नहीं थे, फिर भी अपने हाथ से दो पेज की चिट्ठी लिखने का समय उसे मिल गया था, बहुत-सी पुरानी बातों के अलावा अपनी ट्रांसपोर्ट कंपनी के बारे में सब कुछ लिखा था, उसकी इच्छा, योजना या सपना जो भी कहूं, के अनुसार 100 वें ट्रक से ही वो अपनी ट्रांसपोर्ट कंपनी शुरू कर रहा था. कई जगह रिपीट करने की बजाय आखिरी में लिखकर कि मैं जानता हूं, तुम बहुत बिजी होगे और तुम्हारे पास समय नहीं होगा, लेकिन किसी भी हालत में तुम्हारा आना बहुत जरूरी है. 17 की तारीख बिना तुमसे पूछे फिक्स करने की धृष्टता मैंने जरूर की है, लेकिन अगर तुम न आये तो फंक्शन रोक दूंगा.यह उसने लाल स्याही से अंडरलाइन भी कर दिया था यानी मुझे दिल्ली जाना ही पड़ेगा. न जाने का कोई चांस नहीं.

कालेज के आखिरी दिनों में भाटिया मेरे घनिष्ठतम मित्रों में से हो चुका था. फाइनल करने के बाद उसने कुछ दिनों तक पार्टनर बनकर कांट्रेक्टर का काम किया. कमाया भी अच्छा. फिर ये धंधा छोड़कर ट्रक खरीद लिया. उसमें भी कमाया. जब 10 ट्रक हो गये तो ये शहर छोड़कर वापस हिमाचल चला गया. वहां जी न लगा तो फिर दिल्ली चला गया और वहीं जम गया. अब वहीं अपने नाम से ट्रांसपोर्ट कंपनी खोल रहा था, उसी का इन्वीटेशन था. मैं पांच मिनट तक सोचता रहा, फिर अपने सेक्रेटरी को बुलाकर समझा दिया कि 16 को मैं दिल्ली जा रहा हूं. 18 को लौटूंगा. इसलिए इस बीच सारे अपाइंटमेंट्स कैंसिल कर जाने का इंतजाम करो.

मैं सेकेंड ईयर में था और कालेज की राजनीति में कुछ-कुछ सक्रिय होने लगा था. मैं भाटिया को जानता भी नहीं था.

उस समय कालेज में हंगर स्ट्राइक चल रही थी. मेजर डिमांड थी, कंपार्टमेंट के सब्जेक्ट को लेकर. उस समय तक दो थ्योरी या प्रेक्टिकल रुकने (रुकने यानी पास न होने) तक कंपार्टमेंट रहता था. ज्यादा में जी. एस. कहलाती थी, दोनों ही केस में अगली क्लास में एडमिशन मिलता तो था, पर जी. एस. रहने पर वह प्रोवीजनल हो जाता है और तब अगर सप्लीमेंटरी में दो से ज्यादा सब्जेक्ट जिसके रुके रहते थे उसका एडमिशन कैंसल हो जाता था. यूनियन की डिमांड थी कि चार सब्जेक्ट रुकने तक कम्पार्टमेंट माना जाये और उन्हें रेगुलर एडमिशन दिया जाये अगली क्लासेज में.

दूसरे या तीसरे दिन की बात है. मैं कालेज कैंपस के गेट के पास जहां स्ट्राइक पर बैठे लोगों के लिए बड़ा-सा शामियाना लगा हुआ था, गुजर

यूनिवर्सिटी और कालेजों में कुछ छात्र होते हैं, जो साल-दर-साल एक ही क्लास में घिसटते रहते हैं, मगर चुनाव लड़ते हैं और जीतकर छात्रसंघ के पदाधिकारी बनते हैं. लगता है उनकी जिंदगी का मकसद चुनाव और छात्र राजनीति ही है, लेकिन कभी-कभी ऐसा मुकाम भी आ सकता है जब वे स्वयं को सबसे कटा हुआ और तनहा महसूस करें. क्यों होता है ऐसा? कौन है इसका जिम्मेदार? मां-बाप, भाई-बहन, अध्यापक या दोस्त या वे छात्र खुद? छात्र-शिक्षक, छात्र-अभिभावक और छात्र-छात्र संबंध का परत-दर-परत खुलासा—

रहा था. एक सीनियर बैनर्जी ने बुलाया और मेरे नाम इक्कीस रुपये के चंदे की रसीद काटने लगा. पैसे मेरे पास थे जरूर पर चूंकि मैंने फर्स्ट ईयर आनर्स के साथ पास किया था. कभी कंपार्टमेंट जैसी चिड़िया का नाम नहीं सुना था, इसलिए ये दो और चार सब्जेक्टवाली डिमांड्स मुझे बिल्कुल पसंद नहीं थी. मैं सोचता था, लड़के पढ़ते नहीं हैं इसलिए फेल हो जाते हैं. इसके अलावा मैं चाहता था स्ट्राइक भी अगर हो तो लायब्रेरी में अच्छी बुक्स, अपने बेहतर एक्जाम और पेपर पैटर्न के लिए हो. नये इलेक्टिव सब्जेक्ट्स और वर्तमान में स्टाफ की कमीवाले प्राब्लम्स को लेकर हो. इसलिए इक्कीस रुपये देना मुझे न जंचा. वैसे यह बात दूसरी है कि कालेज में रहते हुए ही मेरी ये सब धारणाएं बदल गयी थीं जब मैंने पाया कि यहां सचमुच में होता क्या है, कैसा होता है. रही बात मेरी डिमांड्स की तो उसे सबने हंसी में उड़ा दिया, जब दो साल बाद यूनियन मीटिंग में मैंने उन्हें रखा था. खैर, बात चल रही थी मेरे चंदा न देने की. मैं चाहता तो था चंदा न देता, लेकिन मैं एक जूनियर जो था भला मना कैसे कर देता. मैंने तरकीब निकाली. कहा, "सर, आप एक रसीद फाड़ने की बजाय पूरी रसीद बुक दे दीजिए. मैं अपनी क्लास-वालों और फर्स्ट ईयरवालों से कलेक्ट कर आपको इक्कीस से ज्यादा का एमाउंट दे दूंगा." तभी एक खूंखार-सा दढ़ियल मेरे पास आया और पूछने लगा, "कहां रहते हो हॉस्टल में या सिटी में? इसके पास जाना, ये सब मेरे क्लासफेलो रह चुके हैं, इनसे मेरा नाम लेना, और कम से कम 100-100 रुपये की रसीद काट देना."

ये मेरी और भाटिया की पहली मुलाकात थी, इसके बाद मैं उसे चेहरे से पहचानने लगा था, वह कालेज में वैसे कम दिखता था, लेकिन जब भी दिखता, मैं उसे विश जरूर कर दिया करता था.

धीरे-धीरे मुझे उसका नाम मालूम हुआ—भाटिया. फिर और भी बहुत कुछ मालूम हुआ. कभी कालेज में या कैंटीन में वह दिख जाता तो लड़के फुसफुसाने लगते और उसके बारे में ज्यादा से ज्यादा (कुछ कुछ मनगढ़ंत जोड़कर भी) बताकर अपने बाकी जूनियर साथियों पर अपना रौब डालने की कोशिश करते. कई बार इन घटनाओं से यही सार निकलता था कि भाटिया बड़ा खूंखार और मूडी आदमी है और गुस्सा भी. बड़ी भयंकर रैंगिंग लेता है. मारने पर उतरता है तो फिर सीनियर-जूनियर कुछ नहीं देखता, बड़ा गुस्सैल है. उससे कभी उलझना नहीं चाहिए. एक बार सेकेंड ईयर में डॉ. सक्सेना ने डिटेंड कर दिया तो उन्हें ही मार दिया. रेस्टीकेट भी हो चुका है. कई पुलिसकेस भी इस पर चल रहे हैं. इन सब बातों में एक रोचक बात ये थी, जो मुझे बड़ी ऊटपटांग लगी कि वो कहता है, 'बी. ई. करने के बाद ट्रक लूंगा, उसके दरवाजे पर अपनी डिग्री चिपकाऊंगा और ट्रक चलाया करूंगा.' लेकिन जब भी उसके बारे में ऐसा सोचता, मुझसे डाइजेस्ट न होता. मुझसे अपनी पहली बातचीत भी उसने अच्छे अंग्रेजी लहजे में की थी और विश को भी प्रापर रिस्पांस दिया करता था. जब कभी वो शेव न करता था और बाल उलझे रहते थे, तब खूंखार जरूर दिखता था.

हमारी पहचान हुई दो साल बाद यूनियन इलेक्शन में. मैं तब मुकेश के पैनल के सेक्रेट्री के लिए लड़ रहा था. भाटिया मुकेश के साथ था. हमारे अपोजीशन में अनिल था, हमारी पोजीशन अच्छी थी, पर पोलिंग के ठीक दो दिन पहले भाटिया और मुकेश में किसी बात पर अनबन हो गयी और भाटिया ने मुकेश को हराना अपना प्रेस्टिज इशु बना लिया. इसके साथ ही कुछ और बातें हो गयीं. ये सब इस तरह हुआ कि हम समझ और सम्हल नहीं सके. परिणाम मुकेश तो हारा ही हारा पूरी पैनल भी डूब गयी. मैं भी हार गया. इस बीच इन दो दिनों में वह जब भी मुझे मिला. मैं यही कहता, 'सर आपकी लड़ाई मुकेश से है. उसे छोड़िए हमें क्यों डुबो रहे हैं. आप कम से कम मेरा तो सपोर्ट कर सकते हैं.' वो कोई जवाब तो नहीं देता, पर चुप जरूर रह जाता. कुछ कहता नहीं.

इलेक्शन रिजल्ट के बाद वो फिर डिसएपीयर हो गया. करीब महीने भर बाद दिखा. मैं कॉरीडोर से गुजर रहा था और वो हाथ में ड्राइंग बोर्ड और दूसरे इस्ट्रुमेंट सम्हाले ड्राइंग का पेपर देकर निकल रहा था. मुझे

देखा तो तुरंत बुलाया. कहने लगा, "खान, मैं तुमसे मिलना चाहता हूं, पेपर्स की वजह से कालेज नहीं आ रहा हूं. कई दिनों से तुमसे मिलना चाह रहा था. तुम मिलो तो तुम्हें कुछ खास कहूं." मैंने कहा कि अभी कहिए तो कहने लगा, "मुझे बहुत अफसोस है, तुम सबसे अच्छे कैंडीडेट थे और तुम ही हार गये." फिर आत्मीय होकर बोला, "आई कांट एक्प्रेस माई थाट्स हियर, यू प्लीज कम टू माई रूम, व्हेन एवर यू आर फ्री, प्लीज डू कम." और चला गया.

कालेज की वार्सिटी ज्यादा दूर नहीं है. और वार्सिटी कैंपस गेट के पास आमानाका बस डिपो के बाजू उसका रूम था. एक हफ्ते बाद मुझे वार्सिटी जाना पड़ा, क्लास में वैसे भी गोल था. सारा दिन खाली था. सोचा, भाटिया से मिल लूं. इतने अनुरोध से बुलाया है तो मिल लेना चाहिए, फिर सोचने लगा. हो सकता है, अगले साल फिर इलेक्शन लड़ूं या किसी को लड़ाऊं, तब अगर भाटिया से अच्छी दोस्ती रही तो इलेक्शन में काम आ सकता है.

रूम में वो मौजूद था. मुझे देखते ही बड़ा भावुक और विचलित हो गया. कहने लगा, "आओ बैठो खान, आएम रियली वेरी सॉरी, मैं तुम्हें हराना नहीं चाहता था और मेरे खयाल में तुम सबसे बेस्ट कैंडिडेट भी थे, लेकिन क्या करूं, मजबूर था. गेहूं के साथ घुन भी पिस जाता है. तुम भी पिस गये. जब जब तुम्हें देखता, मुझे दुख होता तुम बेकार ही पीसे जाओगे काश! कि मैं तुम्हारा सपोर्ट कर सकता और भी बहुत कुछ कहा उसने वो काफी भावुक लगा. मुझे उस दिन उसने अपने हाथ से चाय भी बनाकर पिलायी. जब मैं वापस आने लगा तो कहने लगा, "मुझे अब बड़ा हल्का लग रहा है तुमने आकर मेरे टेंशन कम कर दिये. अब तुमसे नार्मल होकर बात तो कर सकूंगा." फिर आखिर में बोला "खान, अगर जिंदगी रही तो हम भी तुम्हारे लिए जरूर कुछ करके दिखायेंगे. और अगर तुम्हें कभी मेरी जरूरत पड़े. बेहिचक चले आना."

इसी मुलाकात में उसने अपने बारे में भी बहुत-सी ऐसी बातें बतायीं जिससे मुझे उसका व्यक्तित्व बड़ा रोचक लगने लगा था. इसमें वो ट्रक चलानेवाली बात भी थी, जो मैं पहले ही कर चुका हूं. दरअसल, कालेज में भाटिया को इतने साल बीत चुके थे और जो बीतनेवाले थे, उन्हें जोड़ा जायेगा तो डिग्री लेने के बाद वो किसी भी कांपीटीटिव एक्जाम में नहीं बैठ सकता था. किसी नौकरी के लायक नहीं रहता. इस हालत में उसका प्लान चलाना अपने साथ कालेज में बीती बातों ने उसका मन खिन्न कर डाला था. डिग्री की कोई इज्जत उसके मन में नहीं रही थी. यही दबा आक्रोश था, जो कल्पना में उसे ट्रक के दरवाजे पर अपनी डिग्री लटकाने पर आनंद देता था.

इसी मुलाकात के बाद हमारे टर्म्स कुछ बदलने लगे थे. मैं अक्सर उसके रूम पर जाता. हमारी पहचान बढ़ने लगी. कुछ दिनों बाद ही मेरा बर्थ-डे पड़ा. मैं इसे सेलीब्रेट तो नहीं करता. हां घर में केक जरूर बनता है और घर वाले ही खाते हैं, लेकिन जब अगले दिन मैंने केक के कुछ टुकड़े टिफिन में उसे ले जाकर दिये तो बड़ा खुश हो गया. कहने लगा, "खान, मैंने अंडा तक खाना छोड़ दिया है पर आज जरूर खाऊंगा." इस घटना के बाद से हम काफी क्लोज हो गये. वह अब मुझसे काफी कुछ खुल गया. इसी दौरान मैंने अपनी और उसकी मुलाकात के पहले की उसकी आपसी बातचीत के टुकड़ों को जोड़कर उसके ही शब्दों में कुछ ऐसी कथा बनायी थी...

'हिमाचल प्रदेश के सुंदर नगर में मेरा घर है. अपनी स्कूल लाइफ में मैं बड़ा सीरियस और मेधावी छात्र माना जाता था. अपनी क्लास में पहले दो में मेरी गिनती होती थी. अक्सर मेरा प्रतिद्वंद्वी हाफ इयरली एक्जाम में फर्स्ट आता था और मैं एनुअल एक्जाम में. मैं फुटबाल भी बहुत अच्छा खेलता था. और ऐसा होता भी क्यों न, मेरे फादर भी उसी स्कूल में पढ़ाते थे. घर में सब से बड़ा मैं ही था. घरवाले भी मेरा काफी खयाल करते और उत्साह बढ़ाते थे, लेकिन ये सब हायर सेकेंड्री तक की ही बातें हैं. फिर घरवालों ने मुझसे इंजीनियरिंग में एडमिशन के लिए एप्लाई करवाया और मैं यहां रायपुर इंजीनियरिंग कालेज में अदर स्टेट्स कोटे में हिमाचल से सिलेक्ट हुआ. तुम विश्वास न करोगे रायपुर आने के लिए ही पहली बार में घर से बाहर निकला. इसके पहले मैं कभी ट्रेन में भी नहीं बैठा था. मुझे नहीं मालूम था, जहां हम उतरते हैं, वहां टिकट भी वापस कर दी जाती है.

फर्स्ट ईयर की ही बात है, तब मैं हास्टल में था, एक दिन मेरी तबीयत ठीक नहीं थी, मैंने सर्वेंट से कहकर खाना रूम पर मंगवा लिया. ये बात एक सीनियर को बुरी लगी. उसने अगले दिन शाम रूम पर बुलाकर मुझे डांटा, गालियां दीं और मारा. मैं कुछ न बोला, चुपचाप चला आया. लेकिन अगले दिन जब फिर उसने मुझे बुलवाया तो मैंने जाने से साफ इनकार कर दिया. उससे ये बात सही न गयी. एक हंटर लेकर मेरे पास आ गया. तब मैं भी चुप न बैठा. मिनी ड्राफ्टर से ही उसकी ठुकाई कर दी. हल्ला मच गया. जूनियर ने सीनियर को मार दिया. मेरे सारे हास्टल में सीनियर एक हो गये. उन्होंने सभी जूनियर्स को मेस हाल में बुलवाया और धुनाई शुरू कर दी. मुझे भी बुलाया गया. लेकिन वहां ज्योंही मुझ पर एक सीनियर ने हाथ उठाना चाहा, मैंने उस पर हमला कर दिया. मेरी देखा-देखी दूसरे भी अपने सीनियर्स को मारने लगे. पूरे मेस में जूनियर-सीनियर दंगा मच गया. हमारा हॉस्टल जूनियर हास्टल था 150 जूनियर और 20 सीनियर स्टूडेंट रहते थे, जिनमें प्रिफेक्ट भी शामिल थे. हम लोगों ने अपने सीनियर्स को खूब मारा. अगस्त-सितंबर की पूरी रैंगिंग उन्हें ब्याज सहित लौटा दी. इस कांड के बाद जहां कालेज में रैंगिंग कम हो गयी वहीं फर्स्ट ईयर से लेकर फाइनल तक मेरा रौब हो गया. यही मेरे दूसरे रूप का उदय था.

ये मेरे जीवन की पहली लड़ाई थी और जिस प्रकार मैं सफल हुआ था. मुझे इसमें बड़ा मजा आया. और मैं सीनियर्स से मारपीट के मौके ढूंढने लगा. कभी-कभी मारने भी लगा. किसी भी प्रोफेशनल कालेज में सीनियर को मार देना एक बहुत बड़ी उपलब्धि है. और यह मुझे मिल गयी थी. हालांकि मुझे बाद में मार भी काफी खानी पड़ी, लेकिन उससे क्या फर्क पड़ता था जितने मेरे कांड होते, मैं उतना ही प्रसिद्ध और लोकप्रिय होता जाता था. मुझे ऐसे ही दो चार और मिल गये थे. और फिर देखते ही देखते हमारा गुट कालेज में हावी हो गया. हमें चिंता की कोई बात नहीं थी. घर से पैसे बराबर आते थे. स्कॉलरशिप अलग थी. नामिनी होने के नाते दूसरी सुविधा अलग थी. पढ़ाई में हाल यह हो गया कि प्रेक्टिकल पार्टनर ही सारा प्रेक्टिकल करता और सेशनल दूसरे लड़के करके जमा करते थे. लापरवाही बढ़ने लगी. इन सब का परिणाम ये हुआ कि जहां सिगरेट, नानवेज, दारू और बाबूलाल गली की आदतें पनपने लगीं. बरबादी शुरू हो गयी. रिजल्ट आया मेरे 5 थ्योरी और 2 प्रेक्टीकल रुके थे,

पूरी तरह बरबादी तो सेकेंड ईयर में शुरू हुई, जब मुझे फर्स्ट ईयर की सारी शुरुआतें अपने चरम पर पहुंचने लगीं. इसी साल मुझे बहुत-सी क्लासेस पिछले पेपर्स रुकने की वजह से मिस करनी पड़ीं और मैं अटेंडेंस को लेकर बिल्कुल लापरवाह हो गया.

फरवरी में पी. एल. के पहले शार्ट आफ अटेंडेंस की फाइनल लिस्ट लगी तो सभी सब्जेक्ट में मेरी अटेंडेंस शार्ट थी. सबसे कम फिजिक्स में, पांच प्रतिशत थी. बाकी तो सारे सब्जेक्ट वालों ने थोड़ा बहुत एक्स्ट्रा और दो चार एक्स्ट्रा क्लासेस में बुलाकर छोड़ दिया, लेकिन फिजिक्स वाला सक्सेना रोज बुलाता था, डेली 5 प्रब्लम देता था और पूरी क्लास अटेंड करवाता था. जब आधी पी.एल. निकल गयी और मैं बहुत परेशान हो गया तो आगे आने से मना कर दिया. कह दिया सर 15 दिन मैंने बहुत काम किया है और रिक्वेस्ट किया. अब छोड़ दें. उसने साफ कह दिया

अभी 10 दिन और बुलाऊंगा, तभी 75 प्रतिशत अटेंडेंस दूंगा और सेशनल में पास करूंगा. नहीं आओगे तो डिटेंड कर दूंगा. मैं भी बहुत तंग आ चुका था, दो टूक जवाब दिया, "ठीक है सर, जो करना हो, कर लेना, मैं अब नहीं आने का."

पहले पेपर के ठीक 5 दिन पहले जब डिटेन लोगों की लिस्ट लगी तो उसमें मेरा नाम भी था.

मेरी स्टूडेंट लाइफ में यहीं तक सब कुछ ठीक था. उसके बाद आगे कुछ ठीक नहीं हुआ.

उसी शाम सामने साइंस कालेजवालों के साथ भट्ठी पर कुछ ज्यादा ही चढ़ गयी. तय हुआ, कल शाम ही कमीने को सबक सिखाया जाये. साला रोज शाम अपनी बीबी के साथ कैंपस में घूमता है. कल जब वो कालेज के पीछे एन. सी. सी. बिल्डिंग के पास से होकर गुजरे, तब धुंधलके में उसे मजा चखाया जाये.

प्लान में कहीं कोई गड़बड़ न थी, सब ठीक-ठाक चल रहा था. शाम का धुंधलका फैल चुका था, पर मुझे धुकधुकी होने लगी थी. कल भी जब प्लान बनाया जा रहा था, मैंने कहा था, मैं उसे हाथ न लगाऊंगा। तुम बाहरी लोग ही मारना. मैं बस देखूंगा लेकिन कोई न माना था सभी का कहना था भले ही तुम एक मुक्का मारना, लेकिन शुरुआत तुम ही करोगे, तब मानना ही पड़ा था.

वे बिल्कुल पास आ गये थे, जैसे ही वे मुड़े लिटी और नाथ ने उन्हें पैदल क्रास किया और ऐसा करते ही लिटी ने नाथ को धक्का दिया जो सक्सेना से टकराया. सक्सेना नीचे गिर गया. तभी हम सब चिल्लाते और गाली देते हुए उस पर टूट पड़े. मैं तो बस एक हाथ जमाकर खिसक गया. उसकी बीवी चिल्लाने लगी थी. तब बाकी लोग भी दो-दो तीन-तीन हाथ जमाकर खिसक गये, लेकिन सक्सेना अंधेरे में भी मुझे पहचान गया था.

इसी बात को लेकर मुझे कालेज से तीन साल के लिये रेस्टीकेट कर दिया गया. पुलिस-केस बना, सो अलग. मेरे फादर को हिमाचल से बुलाया गया. काफी झंझटों के बाद हमारा समझौता हुआ. पुलिस तो हट गयी, पर रेस्टीकेसन वाला डिसिजन नहीं बदला. कुल मिलाकर मेरा कैरियर खराब हो गया. अब मैं कुछ नहीं कर सकता था.

इसके बाद का जो समय मैंने गुजारा है, मुझे पागल कर देने के लिए बहुत था. शायद मेरी जगह कोई और होता तो हो भी जाता. नहीं तो आत्महत्या कर लेता. मैंने जिंदगी में बहुत थपेड़े खाये. कालेज से बाहर निकाले जाने पर मेरे पास कुछ नहीं बचा, मैं खाली हो गया. घरवालों और रिश्तेदारों को फेस करने की मेरी हिम्मत न रही थी. घर कैसे जाता. स्कॉलरशिप बंद हो गयी. घर से भी पैसे आने बंद हो गये. मेरी भूखों मरने की नौबत आ गयी. तब मुझे डॉ. गुप्ता ने मदद की. यही एक ऐसे स्टाफ मेंबर थे, जो कांड के पहले भी मुझे समझाते रहते थे, "भाटिया, पढ़ाई करो, बाकी धंधे छोड़ दो." और कांड के बाद भी उनकी सिंपैथी एक स्टाफ मेंबर होने के बावजूद मेरे साथ ही थी. वे दूसरों से कहते, भई आखिर ये भी लड़के है हमारे बच्चे जैसे. इनका यहां कोई भी नहीं है, बेचारे पढ़ने के लिए आते हैं घर-परिवार वालों से दूर यहां इनका मां-बाप सगा कोई नहीं होता ऐसे में हमें इनकी मदद करनी चाहिए. इन्हें बुराइयों से बचाना चाहिए और अगर ये कभी गलती कर भी दे तो इन्हें समझा-बुझा कर माफ कर देना चाहिए.

इन्हीं डॉ. गुप्ता से पांच सौ रुपये उधार लेकर मैंने आमानाका में चाय की दुकान खोली. ये होटल महीना भर चला होगा कि फिर बंद कर देना पड़ा. हुआ यूं कि बाजू वाले से मेरा झगड़ा हो गया था. यूनिवर्सिटी के सारे स्टूडेंट मेरे पास आते थे. चाय पीने, उसकी कमाई आधी से भी कम रह गयी थी. जब ऐसे कुछ नहीं कर सका तो उसने चाल चली. मुझे झूठे केस में फंसवा दिया और मेरे नौकर को फुसलाकर मेरे खिलाफ रिपोर्ट लिखा दी कि मैंने उसे मारा है. मेरे खिलाफ फिर एक क्रिमिनल पुलिस केस बनाया. डॉ. गुप्ता ने मेरी जमानत ली. ये लफड़ा 3 महीने चला, पर इसी में हालत मेरी खराब हो गयी. दो किलोमीटर दूर थाने पर रोज मुझे हाजिरी देने जाना पड़ता. ये मेरी सबसे बुरे दिन थे, मेरे पास कुछ न बचा था कपड़े भी एक जोड़ा रह गया था. खान तुम बिलीव न करोगे जिस दिन मैं कपड़े धोता उस उस दिन कपड़े धोकर तब तक तौलिया लपेटे ही कमरे में बैठा रहता तब तक वो सूख न जाते. सच आज भी जब वो दिन याद करता हूं तो आंखों में आंसू आ जाते हैं.

एक दिन उसके रूम में गया तो किसी सहेली से बात कर रही थी, "बड़ी ऐश की जिंदगी है. जब बुलाती हूं, आ जाते हैं. जो कहती हूं, करते हैं. जहां कहती हूं, ले जाते हैं. दोनों हैं बड़े बेवकूफ ! अरे, इतना तो आजकल के पति भी नहीं करते."

धीरे-धीरे मैंने खुद को सम्हालना शुरू किया. अपने को बदलने लगा. एक बार फिर धंधा शुरू किया. अबकी कुछ दोस्तों से पैसे उधार लेकर कपड़े का धंधा अपनाया. नागपुर से कपड़े लाता और यहां उन्हें बेचता. खाने-पहनने का झंझट दूर होने लगा.

अभी भी वही कर रहा हूं. महीने में जाता हूं हजार-दो हजार का माल ले जाता हूं. पांच-एक सौ रुपये मिल जाते हैं. जिंदगी चल जाती है. कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि पैसा जाम हो जाता है. भाई लोग कभी माल उधारी ले जाते हैं मैं उन्हें मना नहीं कर पाता तो टाइम पर नहीं पटाते. इतना तो भरना पड़ता है. रही कालेज की बात तो हर इलेक्शन में हिस्सा जरूर लेता हूं. अभी तक ऐसा नहीं हुआ जिसे सपोर्ट करूं, वह हार जाये. और पढ़ाई की बात कि तीन साल से ज्यादा हो चुका है सो पुराने पेपर निकाल रहे है और आगे बैठ रहे हैं.

भाटिया बिल्कुल बदल चुका था, सारी आदतें बदल डाली थी उसने. वो सरदार था फिर भी दारू और नानवेज तक छोड़ दिया. सरदार सिगरेट नहीं पीते, लेकिन उसने इसे बंद नहीं किया, पता नहीं क्यों जबसे शुरू किया था, आजतक वही चारमीनार बिना फिल्टर की पीता है.

अब वो कहीं आता-जाता भी नहीं था जाता भी तो सिर्फ डॉ. गुप्ता के घर, जिनकी वो बड़ी रिसपेक्ट करता था. इसके अलावा जब कभी शुक्ला आता उसके घर जाता है. शुक्ला उसका पुराना क्लास फेलो और दोस्त था, उन दिनों नेवी में था.

मेरा घर काफी दूर पड़ता था. इसलिए हमेशा मैं ही उसके यहां जाता था, पर वो कभी-कभी ही आता था पहली बार मैंने उसे अगले साल ईद पर बुलाया था खाने के लिये. अगले दिन मिला तो कहने लगा खान तुम कहां हमसे दोस्ती रखते हो. यू आर ए गुड परसन यू आर लकी आल्सो, तुम्हारे पास सब कुछ है, हाई सोसाइटी, घर, गाड़ी फर्निश्ड डेकोरेटेड रूम्स, टी.वी. और सब कुछ. कोई चिंता न काम. बस ऐसा ही ऐश और

कहां मैं, मेरा रूम और मेरी रेपुटेशन बिलकुश सूट नहीं करते, लेकिन ऐसा न हुआ. हम और क्लोज होते गये.

फिर कुछ ऐसा हुआ कालेज में कि दोनों ने फाइनल में साथ ही एडमीशन लिया ब्रांच दोनों की एक ही थी सो क्लास भी वही थी, लेकिन क्लास में वो कभी मेरे साथ न बैठता. मना करता था. कहता, "खान, तुम मेरे साथ न बैठा करो, टीचर्स पर तुम्हारा अच्छा इंप्रेशन है मेरे साथ बैठोगे तो तुम्हें भी कम सेशनल मिलेंगे." क्लास में भी अक्सर टीचर्स से सेशनल को लेकर बहस हो ही जाती थी वो भी कहने से न चूकता, "आप लोग भी पूर्वाग्रह के साथ नंबर देते हैं. एक बार जिसके बारे में जैसा ओपीनियन बना लेते है, वह कभी नहीं तोड़ते.

मैं और भाटिया कभी अपने भविष्य को लेकर अपनी योजनाओं पर बातें करते. फाइनल पहुंचने तक उसकी अपनी ट्रक वाली योजना कुछ बदल गयी थी, परंतु इस बात पर तो वह पूरी तरह दृढ़ था कि अपनी ट्रांसपोर्ट कंपनी जरूर खोलेगा. और वो भी अपने नाम से. तब जब मेरे पास सौ ट्रक होंगे, लेकिन इस शुरुआत में ट्रक लेने के पहले दास का का नाम भी योजना में जुड़ गया था. जो पी. डब्लू. डी. में डिप्लोमा इंजीनियर और कालेज के पार्ट टाईम डिग्री कोर्स के यूनियन प्रेसीडेंट भी थे, उनके सहयोग से उनके दोस्त कांट्रेक्टर के साथ कुछ दिन ठेकेदारी कर पैसा कमाने की बात आ गयी थी.

हम जनरल टॉपिक पर भी बातें करते थे और अपने अनुभव बताया करते थे, एक बार लड़कियों पर बात निकली तो उसका चेहरा कुछ खिंच-सा गया. बतलाने लगा, "मेरे एक फास्ट फ्रेंड का एक टेलीग्राम मिला था उसकी फ्रेंड कुछ दिनों के लिए रायपुर आ रही थी, उसे रिसीव करने और हेल्प करने का अनुरोध था. टेलीग्राम मेरे और बैनर्जी दोनों के नाम था हमने उसे स्टेशन पर रिसीव किया, यूनिवर्सिटी हास्टल में रहने का इंतजाम करवाया. वो जो भी हेल्प चाहती हम करते, रिक्शे में बाजार जाते, पैसे भी हमी देते काफी हाऊस या मंजू ममता में बैठते तो भी हम 'पे' करते. हमने सब कुछ किया, जो कर सकते थे. हम समझते हमने दोस्ती का फर्ज पूरा किया, लेकिन वो हमें कुछ दूसरा ही समझने लगी थी. एक एक दिन उसके रूम पर गया तो किसी सहेली से बात कर रही थी, "बड़ी ऐश की जिंदगी है जब बुलाती हूं आ जाते हैं, जो कहती हूं, करते हैं. जहां कहती हूं, ले जाते हैं. न अपनी कौड़ी खर्च होती है और न ही मेहनत करनी पड़ती है. दोनों हैं बड़े बेवकूफ. अरे, इतना तो आजकल के पति भी नहीं करते. . ."

एक बार इलेक्शन हारने के बाद अगली बार मैं खड़ा नहीं हुआ, लेकिन मेरे हारने के बाद का अगला इलेक्शन लड़ा मेरे ही दोस्त सतीश ने, जो भाटिया का भी चेला था.

उसी इलेक्शन की बात है. हम सब करीब 10-15 लोग बैठे थे. होस्टल में सतीश का वेट करते हुये. वो सिटी गया हुआ था. हम गप मारने लगे. बात घूमती घूमती रडियो पर चली गयी. एक जूनियर से कुछ कहने पर अचानक भाटिया हंसने लगा, बोला तुम क्या करोगे बच्चे हो जो हमने अपने जमाने में किया, तब सेकेंड ईयर में और प्रमोद रूम पार्टनर थे, खूब छनती थी हममें. रोज रात को आमापारा तालाब तक जाते थे. एरिये की सारी रांड हमारे नाम से कांपती थीं. जो भी मिल जायें, लेकिन अब ये ऐसी इच्छा ही नहीं होती. अब तो सोचते हैं कब निकलेंगे, इस कालेज से फिर अचानक उदास होकर कहने लगा था, सच्च कितने लकी होते हैं वो, जो पांच साल में कालेज से निकल जाते हैं.

लेकिन सतीश वाला यही इलेक्शन, भाटिया की पोलिटीकल डेथ साबित हुआ. सतीश हार गया. सात साल के इतिहास में भाटिया ने जिसे लोग इलेक्शन टाइम पर किंग मेकर कहते थे, ने जिसका भी सपोर्ट किया था, हमेशा जीतता था, लेकिन इस इलेक्शन में भाटिया की सपोर्ट वाली पूरी पेनल के परखचे उड़ गये थे. दोष भाटिया का भी न था. मेहनत और किस्मत भी कोई चीज होती है. सतीश फंड का भी ठीक ढंग से इंतजाम किया था. अंत तक कहता रहा सब तैयार है और एन टाइम पर हालत ये हो गयी कि वोटर्स को लाने जीपें तो खड़ी थी, लेकिन डीजल के लिए पैसे नहीं थे. ऐसे में भला जीत होती है कहीं इसके साथ सतीश ने ज्यादा मेहनत भी नहीं की. सोचता था भाटिया का सपोर्ट है. फिर और क्या चाहिए और भी बहुत से ऐसी बातें थी जो किसी को आसानी से चुनाव हरवा दें. और वही हुआ.

इस रिजल्ट पर उसने जो इंसल्ट फील की थी और उसका जो रिएक्शन उस पर हुआ था, मैं सोच भी नहीं सकता था. रिजल्ट के बाद शाम मैं जब उसके रूम पर गया तो दंग रह गया. देखा 4-5 लोग घेरे बैठे थे उसे. खाट पर लंबी-चौड़ी काया जैसे सुन्न पड़ गयी थी और आंखें शून्य में ताकती हो, जब मैंने उसका कंधा थपथपाया और पुकारा तो करीब 5 मिनट बाद मुझे देखा और फफककर रो पड़ा. खान, अब मैं क्या मुंह लेकर कालेज जाऊंगा.

अपनी स्टूडेंट लाइफ और कैरियर स्पॉयल करने के लिए वो प्रिंसपल, डॉ. सक्सेना और बाकी लोगों को जब तक बहुत गाली दिया करता था, मैं चुपचाप रहता था. एक दिन मैंने पूछ ही लिया, "माना सबने तुम्हारे साथ ज्यादती की. जुल्म ढाया, लेकिन बताओ जो कुछ तुम्हारे साथ हुआ है उसमें क्या कहीं भी जरा-सा भी तुम्हारा दोष तुम्हारी जिम्मेदारी या लापरवाही नहीं?" इस वक्त वो बड़ा उदास और निराश होकर बोला, "सारा झंझट सारे दुख मैंने खुद ही तो पाले है काश! कि मैं मारपीट लड़ाई-झगड़ा, लापरवाही न की होती, टीचर्स से न उलझा होता और सिर्फ पढ़ने में ध्यान लगाया होता तो आज मेरी ये हालत न होती. मैं भी कुछ होता. फिर थोड़ी देर बाद आशा और उत्साह में भरकर बोला था, "लेकिन खान, मैं इन सबको भी दिखा दूंगा कि इससे भी मेरा कुछ नहीं बन बिगड़ सकता. जिन्दगी रही तो मैं भी कुछ कर दिखाऊंगा. मैं किसी की दया नहीं चाहता. भीख नहीं मांगता. बस एक सहयोग चाहता हूं और अपना अधिकार. इसके अलावा कुछ भी नहीं."

मैं नागपुर होकर दिल्ली गया था. रायपुर से 6 घंटे में एवरो से दिल्ली जाने, जिसमें हर एक घंटे की फ्लाइट के बाद आधा घंटा ट्रांजिट कार्ड लेकर रास्ते के सारे एअर पोर्ट पर खड़े रहना पड़े की बजाय मैं कार से नागपुर आकर यहां से बोईंग की डायरेक्ट फ्लाइट (बंबई, दिल्ली, नागपुर होकर) कैच करना ज्यादा पसंद करता हूं, जबकि इसमें नागपुर तक कार से आने की वजह से दो घंटे ज्यादा लगते हैं.

दिल्ली जाते वक्त नागपुर से उसी प्लेन में डॉ. पाटिल मिल गये थे जो बांबे से आ रहे थे और एक कांफ्रेंस के लिए दिल्ली जा रहे थे. डॉ. पाटिल भी हमारे जमाने में रायपुर इंजी. कालेज में थे. फाइनल में हमारा आ. सी. सी. स्ट्रक्चरल डिजाइन लिया करते थे. मेरे उनके काफी अच्छे टर्म्स थे. हमारी सीटें आजू-बाजू में भी थी. जब मैंने उन्हें बताया, "भाटिया ने दिल्ली में अपनी ट्रांसपोर्ट कंपनी खोल ली है. कल इनागयुरेशन रखा है उसी के लिए जा रहा हूं. तो वो भी कुछ याद करते हुए बताने लगे. "हां एक बार काफी पहले मुझसे भी मिला था बांबे में. पर इसबारे में कुछ भी नहीं बताया था. हां, उस वक्त भी ये शिकायत जरूर कर रहा था कि फाइनल में उसने 90 प्रतिशत क्लासेज अटेंड की. फिर भी मैंने उसे 80 प्रतिशत ही सेशनल दिये. ये कहां का जस्टीफिकेशन था." फिर एक अलग लहजे में बोले, "अब हम सोचते हैं. हमें क्या पता था कि इनकी भी किस्मत एक दिन पलट जायेगी."

प्लेन टेक आफ शुरू करने वाला था. बेल्ट मैं पहले ही चढ़ा चुका था, एक चाकलेट मुंह में डालकर मैंने काटन पैकेट फाड़े और दो-दो पैकेट की काटन एक-एक कान में भर ली. □

● जिया मुसब्बिर खान, बी.ई. अंतिम. (सिविल),
शा. प्रौ. म. वि., रायपुर

प्रोत्साहन पुरस्कार : चार

हस्ती मिटती नहीं हमारी

केशव राम

किसी स्वाभिमानी व्यक्ति के विद्रोह और आत्मविश्वास की कोई सीमा होनी चाहिए या नहीं ? हाड़-मांस का बना कोई आदमी आखिर कब तक लड़ता रह सकता है? 'एक और प्रतिभा द्वारा आत्महत्या' जैसे सनसनीखेज समाचारों के पीछे छिपे विचारोत्तेजक सवालों का खुलासा—

उसकी मां चारपाई पर लेटी हुई थी. पिताजी पास में ही मोढ़े पर बैठे हुए थे. आंखों पर काफी मोटे लैंस का चश्मा. मैंने सोमेश के बारे में पूछा तो पहले उन्होंने अपनी पैनी नजरों से मेरे पूरे शरीर का एक्स-रे ले लिया.

"तुम कौन हो." उन्होंने मुझे घूरा.

अपने कारोबार के कारण बीच में ही पढ़ाई छोड़ने के बाद मैं तीन साल में पहली बार उसके यहां आया था. धंधे में कुछ इतना उलझा कि उससे मिलने की फुर्सत ही नहीं मिली. जब मां-बाप को अपने इस इकलौते पुत्र रत्न का भला करने की सूझी तो मुझे समय निकालकर याद करना पड़ा कि इस शहर में सोमेश्वर प्रसाद नाम का भी एक व्यक्ति रहता है, जिसे मैं बहुत प्यार करता हूं और जिसकी दोस्ती पर मुझे नाज है.

"जी, मैं उसका दोस्त हूं. असल में अंकल, आप याद करें, मैं पहले भी कई बार यहां आ चुका हूं. मैं आपको अच्छी तरह जानता हूं."

"ठीक है." उनकी रौबीली आवाज से मैं सहम गया. उन्होंने अपना चश्मा उतारा और

कुर्ते के कोने से उसे साफ करने लगे. जब वे काफी देर तक कुछ न बोले तो मुझसे रहा नहीं गया, "जी वो सोमेश. . ."

"बेटा, सोमेश काफी दिन से. . ." उसकी मां कुछ कह रही थी, लेकिन उसके पिताजी बीच में ही बोल उठे, "सोमेश मर गया है."

बड़े शांत भाव से और बिना किसी प्रतिक्रिया के उन्होंने जो वाक्य कह दिया था, वह मुझे अंदर तक चीरता चला गया.

"क्या?" मेरी सारी खुशी मानों बर्फ की तरह एक सिल्ली बनकर धीरे-धीरे पिघलने लगी थी. मेरा एकमात्र दोस्त सोमेश मर गया है. वह सोमेश, जिस पर जमाने भर का बोझ लाद दो, फिर भी शंका या अविश्वास का एहसास तक नहीं. उसने और मैंने एक साथ बी.ए. किया था. फिर उसने एम.एस.-सी. भी फर्स्ट क्लास किया था. मैं तो सोच रहा था कि अब तक तो वह कोई बहुत बड़ा अधिकारी बन गया होगा. सोमेश एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार से जरूर आया था, लेकिन उसमें आत्मविश्वास गजब का था. उसकी आकांक्षाएं बहुत ऊंची थीं. जिन दिन बी.एस.-सी. का रिजल्ट निकला था और वह पूरे कालेज में टॉप कर गया था, मुझे जरा भी नहीं लगा कि उसे कोई अतिरिक्त खुशी हुई हो. कांग्रेचुलेशन, बधाई और तालियों की गड़गड़ाहट से परेशान होकर किस तरह वह मेरे पास आया था, "सुरेश, आखिर ये लोग समझते क्यों नहीं हैं. छोटी-सी बात का बतंगड़. अभी तो कुछ भी नहीं कर पाया हूं."

और उसकी वह पंक्ति 'बात कुछ ऐसी है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी' मानो समय-समय पर उसमें शक्ति का संचार करती हो. असंख्य घटनाएं साकार होकर मेरी आंखों के सामने तैरने लगीं. आंसुओं के सैलाब को छिपाने के लिए मैंने मुंह फेर लिया और फिर उनसे बिना कुछ कहे वापस आ गया.

अपने सिद्धांतों के लिए नौकरी से त्यागपत्र देने के लिए जहां मन के किसी कोने में एक गर्व का भाव था, वहीं पिताजी का अपमानित चेहरा भी मुझे हमेशा आतंकित किये रहता था. एक ओर जिंदगी भर तपस्विनी का जीवन जीने वाली मां थी तो दूसरी ओर मेरी तरफ ताकती उनकी सूनी-सूनी आंखें थीं. एक ओर जहां सिर्फ निराशा थी, कुंठा थी, दूसरी ओर रिटायर्ड एस. डी. एम. साहब की तपेदिक से पीड़ित सबसे छोटी बेटी और उसके आंचल से बंधी हाई स्कूल की वह टीचरी थी. . .

उस दिन तो जैसे गजब ही हो गया, बल्कि अनहोनी कहना चाहिए. मैं स्टेशन पर वेटिंग रूम के दरवाजे के पास खड़ा था. अभी-अभी कोई गाड़ी आयी थी. मेरे सामने से लोगों की भीड़ दाहिने हाथ की तरफ बने निकास द्वार की तरफ बढ़ रही थी. तभी जैसे कोई जादू-सा हुआ हो. मुझे लगा कि जैसे सामनेवाले डिब्बे से सोमेश उतर रहा हो, लेकिन सोमेश की तो सिर्फ एक स्मृति ही शेष रह गयी थी. मेरा दिल भर आया उसे देखकर. होगा कोई बेचारा, मैंने सोचा, काश! सोमेश भी आज ऐसे ही उतर रहा होता तो मैं उसे बांहों में भींच लेता. एक आह-सी उभरी दिल से. सामनेवाली आकृति काफी स्पष्ट होती जा रही थी. बिल्कुल वही चुस्त, चौकन्ना व्यक्तित्व. बिल्कुल वही चाल. जरा और पास आया तो मैंने पाया कि वह मेरी तरफ देखकर मुस्करा रहा था. मैंने अपनी अगल-बगल देखा, लेकिन कोई नहीं. तब तक उसने आकर मेरा गिरेबान पकड़ लिया, "ऐसे क्या देख रहा है बे, लगता है जिंदगी में पहली बार स्टेशन आया है." उसने अपनी पकड़ थोड़ी ढीली कर दी. मैं एकदम बौखला गया था, "माफ करिएगा भाई साहब, मैं. . ."

"हां बेटा, तू क्यों पहचानेगा अब. तुम सेठ लोग तो साले होते ही मतलबपरस्त हो. जहां मतलब होता है, वहां किसी की नानी-दादी से भी तुम्हारा रिश्ता निकल आता है और जहां. . ." उसने मुझे अंदर वेटिंग रूम में घसीट लिया था. मुझे यकीन हो गया कि यह व्यक्ति है तो सोमेश्वर ही. अब चाहे सच में हो या फिर उसका भूत. कई जगह पढ़ा था कि भीड़भीड़ वाली जगहों में भूत आसानी से रूप बदल लेते हैं. मैं उससे जरा कटकर ही चल रहा था. दो चाय के लिए कहकर वह मुझे कोने की तरफ पड़ी दो खाली कुर्सियों की तरफ ले गया.

"अब सुना यार, क्या हाल हैं?" उसने कहा, लेकिन मेरे मन में एक अज्ञात आशंका, एक भय, घर करता जा रहा था. क्या यह सचमुच वही सोमेश है, जिसके बिना मैं कभी कोई नया काम शुरू करने की कल्पना तक नहीं कर सकता था. क्या यह सचमुच वही सोमेश है, जिसके साथ मैं इतना जुड़ गया था कि हम दोनों को कभी-कभी शक होने लगता कि हम दोनों कहीं एक ही व्यक्ति तो नहीं है, लेकिन नहीं, वह सोमेश तो मर चुका है. उसके मां-बाप ने अपने मुंह से मुझे बताया है. फिर भी. . . यह है तो वही सोमेश. . . "देखो लालाजी, अगर तुम सचमुच मुझको नहीं पहचान रहे हो या नहीं पहचानना चाहते हो तो मैं माफी चाहता हूं." उसने मेरे कंधे पर हाथ रखा और उठने का उपक्रम किया.

"नहीं सोमेश, वह बात नहीं है." मैंने धीरे से उसका हाथ दबा दिया. "असल में मुझे. . ." और मैंने थोड़ा सकुचाते हुए पूरी बात उसे बता दी.

मेरी बात सुनकर वह ठहाका लगाकर हंस पड़ा, हंसता गया. . . इतनी जोर से कि आसपास के लोग उसे विस्मय से देखने लगे. बड़ी मुश्किल से मैंने उसे चुप कराया.

"तो यह बात है, आप मेरे भूत से भयभीत हैं." वह मुस्कराकर चुप हो गया. प्याली उठायी और चाय पीने लगा. एक घूंट, दूसरा घूंट, तीसरा और फिर हर घूंट के साथ उसकी उत्तेजना कम होती गयी. चेहरे पर रूखापन बढ़ता गया, पत्थर की तरह भावहीन होता गया. और जब उसने चाय खत्म की तो मेरे लिए अनुमान लगाना मुश्किल हो गया कि उसे यह अचानक क्या हो गया है.

"सुरेश, मैं बहुत शर्मिंदा हूं कि मेरे कारण तुझे पिताजी की बेरुखी का सामना करना पड़ा. कम से कम तेरे लिए तो मैं बिल्कुल नहीं चाहता था कि तेरे साथ यह हादसा हो. खैर. . ." वह अटक-अटककर बोल रहा था, "तुझे नहीं मालूम, मरते वक्त पिताजी सबसे यही कहते रहे कि सोमेश मर गया है. तू भी सोचता होगा कि वे कितने जीवट किस्म के व्यक्ति थे, लेकिन बात वह नहीं थी. उनके अंतर की पीड़ा को, उनकी विवशता एवं छटपटाहट को मैंने बहुत करीब से महसूस किया था. इसलिए बाद में मैं जानबूझकर उनसे दूर रहने लगा था. . सच तो यह है सुरेश कि यह दर्द मुझे जिंदगी भर सताता रहेगा कि मरते समय तक पिताजी के मन में मेरे लिए एक असंतोष का भाव ही रहा." वह भावुक होता जा रहा था. चेहरे का आकार बनता, बिगड़ता, फिर वह संभलने की कोशिश में स्वयं से जूझता. एक भयंकर कशमकश. वही सोमेश, जो भावुकता को व्यक्ति की कमजोरी समझता था. वही सोमेश, जो मेरे इतने भावुक होने पर मुझे कई चांटे मार दिया करता था. उस तमाम शोरगुल और भीड़भाड़ के बावजूद मुझे लगा कि हम दोनों किसी निर्जन में बैठे हुए हैं और सोमेश को पहली बार अपने बीते दिनों का विश्लेषण करने का समय मिला है. और उस विश्लेषण का माध्यम मैं स्वयं हूं. एक भौतिक अस्तित्व लिये हुए बहुत ही कठिन स्थिति में. . .

"वैसे अगर उन्होंने मुझे मृत घोषित कर दिया था तो कुछ गलत भी नहीं किया. उनके सपनों के बेटे सोमेश ने उन्हीं के सामने धीरे-धीरे दम तोड़ा था. उनके ऑफिसर बेटे सोमेश की मृत्यु उन्हीं के सामने

हुई थी." उसने मुझे बताया कि किस तरह अपने जीवन-भर के संबंधों एवं संपर्कों को भुनाकर उसके पिताजी ने उसे अपने ही ऑफिस में अकाउंट्स सैक्शन में नियुक्त करवा दिया था. अच्छी तनखा, अच्छी सुविधाएं, इज्जत सभी कुछ तो हासिल था उसे. लेकिन कुछ ही समय के बाद उसे महसूस होने लगा कि 'ऊपरी हाथ' का वह भयंकर सर्प उसके चारों तरफ कुंडली मारता आ रहा है. वह चाहता तो उस घेरे में रहकर फल-फूल सकता था, आबाद हो सकता था, लेकिन उसका विद्रोही मन न माना. व्यावहारिक जीवन में उसके सिद्धांतों की यह पहली परीक्षा थी. तीन महीने बाद ही उसने रिजाइन कर दिया था. यही दिन था, जब उसके पिताजी के लिए उसकी मौत हो गयी थी, लेकिन उसे अपनी योग्यता पर पूरा विश्वास था. उसे विश्वास था कि इसकी इतने वर्षों की मेहनत यूं ही नहीं जायेगी, पर धीरे-धीरे उसकी समझ में सब कुछ आने लगा. एक मंजिल की तलाश में उसने सैकड़ों अंधेरी कंदराओं से गुजरना पड़ा, लेकिन मंजिल न मिल सकी. वह कहां-कहां नहीं गया, किन-किन लोगों से नहीं मिला. कितनी जगह उसने अप्लाई नहीं किया, लेकिन सब कुछ व्यर्थ. संघर्ष करते-करते वह उस बिंदु पर पहुंच गया था, जहां व्यक्ति ही टूट जाता है. उसने अपने आप को नजरंदाज करना शुरू कर दिया था. सुबह का निकला शाम को वापस आता. बिखरे बाल, बढ़ी दाढ़ी. कई दिन से न कटे नाखून और . . .

वह हांफने लगा था. थोड़ी देर तक लंबी-लंबी सांसें भरता रहा.

"मुझसे सिर्फ इतना न हो सका कि एक बार पास भी आ जाऊं.

"मैं जानता हूं, तेरे न आने का कारण." मैंने कहा.

"अच्छा, सुरेश." वह बिल्कुल मुझसे सट गया. "यह तो साधारण-सी बात है कि व्यक्ति की मौत और व्यक्तित्व की मौत दो भिन्न मौतें हैं, लेकिन मौजूदा परिस्थितियों में कौन-सी मौत मरना समझदारी होती है?" वह घायल निगाहों से मेरी तरफ ताक रहा था, "मैं तेरा आशय तो नहीं समझा, लेकिन इतना कह सकता हूं कि परिस्थितियां चाहे कोई भी हों, व्यक्तित्व की मौत घृणित मौत है. यह व्यक्ति के सिद्धांतों की मौत होती है. वैसे मैं दावे से कह सकता हूं कि तेरे व्यक्तित्व की मौत इतनी आसानी से नहीं हो सकती. . ."

"प्लीज सुरेश," जैसे कोई तीर उसके सीने में घुसता चला गया हो, "मैं तुझसे झूठ नहीं बोलूंगा. मैंने व्यक्ति को बचाने के लिए अपने व्यक्तित्व की हत्या कर दी है." वह लगभग सिसकता हुआ खड़ा हो गया. टप टप दो आंसू नीचे गिरे. . .

"हो सके तो कभी आ जाना. अभी हम लोग कुछ दिन और यहां रुकेंगे." कहता हुआ वह तेज कदमों से बाहर निकल गया.

वह चला तो गया था, लेकिन अपने पीछे बहुत कुछ छोड़ गया था, पर सिर्फ एक गुबार के रूप में, सिर्फ एक धुएं के रूप में, जिसमें कुछ देख पाना संभव नहीं था.

मैं उसके पास न जा सका. और जब गया तो वह अपनी पत्नी के साथ जा चुका था, कहां गया, यह मालूम न हो सका. एक बार फिर मुझे अपनी व्यस्तता पर बुरी तरह गुस्सा आया, लेकिन तब क्या किया जा सकता था. एक डर मन में बैठ गया था कि अब मैं कभी उससे नहीं मिल पाऊंगा. मुझे लगा कि एक घुन-सा उसके जीवन में लग गया है, जो धीरे-धीरे उसको अंदर से खोखला करता जा रहा है वरना उसकी जैसी मानसिकतावाले व्यक्ति की जिंदगी आखिर इतनी अस्थिर क्यों हो जाती. ढेर-सी करुणा उस अभागे के लिए मन में उमड़ आयी. मैं चाहता तो उसकी कई रूपों में मदद कर सकता था और मदद ही नहीं, बहुत कुछ कर सकता था उसके लिए, लेकिन उसके जिस रूप से मैं परिचित था, उसने मुझे कभी आगे नहीं बढ़ने दिया. क्या पता, उसके आत्मसम्मान को चोट पहुंचे और वह बुरा मान जाये. और सोमेश की दोस्ती मेरे लिए वह संपत्ति थी, जिसे मैं कभी खोना नहीं चाहता था. उदास मन से मैं वापस लौट आया था. उसके कई दिन बाद तक मेरी मानसिक स्थिति ठीक नहीं रही. एक मानसिक यंत्रणा का भयंकर दौर. चाहकर भी कुछ न कर पाने की छटपटाहट, लेकिन धीरे-धीरे सब कुछ सामान्य होता चला गया था. दो वर्षों का वह लंबा समय न जाने कैसे इतनी जल्दी सरक गया. मेरे व्यापार का काफी विस्तार हो गया था और मेरी व्यस्तता पहले से अधिक बढ़ गयी थी. इस बीच सोमेश के बारे में कहीं से भी कोई समाचार मुझे नहीं मिल सका. न सोमेश ने ही कभी मुझे कोई पत्र लिखा. उसका अस्तित्व मेरे लिए सिर्फ इतना रह गया था कि उसका मकान उसी शहर में था. मकान को चूंकि बेचा नहीं गया था, इसलिए आशा की एक छोटी-सी किरण अब भी टिमटिमा रही थी कि शायद वह कभी मिल जाये.

लेकिन उस दिन जब वह सुबह-सुबह आसमान से टपक-सा पड़ा तो मैं खुशी से झूम उठा. उसका शरीर पहले की अपेक्षा आधा रह गया था. चेहरे की कांति न जाने कहां चली गयी थी. वह हंसता था तो चेहरे पर कई जगह गड्ढे दिखने लगे थे.

"मानता है न कि मैं तुझे बहुत प्यार करता हूं इसलिए तो इलाहाबाद जैसी पवित्र जगह से सीधे तेरे पास आ रहा हूं." उसने अंदर घुसते हुए कहा था.

वह कहां रहता है, क्या काम करता है, जिंदगी कैसे कट रही है आदि प्रश्नों की मैंने झड़ी-सी लगा दी थी.

"यार, दम तो ले लेने दे पहले." उसने बैठते हुए कहा. बाद में उसने मुझे बताया कि वह जिला गोरखपुर में भारत और नेपाल की सीमा से लगे हुए एक गांव के हाईस्कूल में पढ़ाता है.

"भावी राष्ट्र का निर्माण कर रहा हूं." सब कुछ स्पष्ट-सा करता हुआ स्वर. बिना किसी लाग लपेट के उसने मुझे बताया कि उसकी पत्नी को तपेदिक हो गया है. हाथ का सारा पैसा खत्म हो चुका है. विवाह में आये जेवर भी बिक चुके हैं. इसलिए वह कुछ पैसा निकालने के लिए इलाहाबाद गया था. भविष्य निधि खाते में पैसा ही कितना था, लेकिन जो कुछ भी मिल जाता इस समय. . .पर काम बना ही नहीं.

"क्यों नहीं बना." मैंने पूछा.

"सेठजी, आपके लिए जो कारण बिल्कुल महत्त्वहीन हो सकते हैं, मेरे जैसे व्यक्ति के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं."

"तो फिर अब क्या होगा?" मैंने चिंतित भाव से पूछा.

ऊंची बस्ती बड़े लोग

▣ अशोक कुमार महाजन

शहर के किनारे एक बस्ती थी, उसमें दस खूबसूरत बंगलों में राज्य के दस उच्चाधिकारी रहते थे. सभी साधनसंपन्न, प्रगतिशील विचारों एवं सुरुचिपूर्ण आदतों के स्वामी थे. सभी एक दूसरे के प्रति आधुनिक भ्रातत्व, परस्पर स्नेह एवं समता के प्रतीक थे. सभी के पास कार एवं टेलीफोन की सेवायें समान रूप से उपलब्ध थीं. सभी खुशहाल थे. एक दिन बंगला नंबर आठ के अधिकारी की गाड़ी खराब हो गयी तो उसे सही कराने हेतु गैराज में भेज दिया गया. सामान्यतः जिस प्रकार से उच्च अधिकारी जो आम बीमारी, दिल दिमाग या जिगर की बीमारी से त्रस्त होते हैं, उसी प्रकार से बंगला नंबर आठ के उक्त अधिकारी दिल की बीमारी से ग्रस्त थे और दुर्भाग्यवश उसी रात्रि उक्त अधिकारी को मध्य रात्रि में दिल का गंभीर दौरा पड़ा. टेलीफोन जिस तरह से सामान्य तौर पर आराम (खराब) कर रहे थे. उससे कोई संबंध किसी अस्पताल, नर्सिंग होम या डॉक्टर से नहीं हो पाया तो तुरंत तय पाया गया कि अधिकारी को तत्काल किसी गाड़ी के द्वारा अस्पताल या डाक्टर के पास ले जायें. इसके लिए क्रमशः उस कालोनी के सभी अधिकारियों से गाड़ी मांगी गयी. परंतु प्रत्येक अधिकारी की गाड़ी में कुछ न कुछ खराबी निकली. किसी का गेयर बक्सा खराब था, किसी का डायनमो खराब था, किसी की बैटरी खराब हो गयी थी, किसी का पहिया पंक्चर था. इसी प्रकार कुछ न कुछ खराबी होने की वजह से गाड़ी उपलब्ध नहीं हो पायी. और इस प्रकार से डाक्टरी इलाज समय से न मिलने के कारण उक्त अधिकारी की मृत्यु हो गयी. खास बात यह थी, सभी अन्य भी गाड़ियां दूसरे दिन उक्त अधिकारी की शव यात्रा में जरूर शामिल हुईं. □

"कुछ तो होगा ही, लेकिन तू क्यों फिक्र करता है. तुझे मालूम है कि बात कुछ ऐसी है कि 'हस्ती मिटती नहीं हमारी.' वह शरारत से मुस्करा रहा था. बहुत दिनों के बाद उसके मुंह से यह वाक्य सुनकर मैं थोड़ा आश्वस्त जरूर हो गया था, लेकिन उसकी आवाज की यह लड़खड़ाहट भी मुझसे छिपी न रह सकी. सोचा, ऐसे मौके पर तो जरूर कुछ मदद करनी चाहिए, लेकिन वही दशहत. . .

मैंने बहुत मुश्किल से उसको उस दिन रुक जाने के लिए तैयार किया. शाम को उसकी पत्नी के लिए एक जोड़ी कपड़े लिये और उन्हीं के बीच पांच-सौ रुपये रख दिये."

"सोमेश अपनी शादी में तूने मुझे नहीं बुलाया, इसलिए तुझसे तो मैं बहुत नाराज हूं. यह पैकेट भाभीजी के लिए है मेरी तरफ से."

ग्यारह दिन के बाद मुझे मेरे पांच सौ रुपये मनीआर्डर से वापस मिल गये थे. साथ में सोमेश का एक पत्र भी मिला.

"सुरेश, तू अगर मेरा इतना घनिष्ठ मित्र न होता तो मैं तुझे यह पत्र कभी न लिखता. अंतरंगता की जिस आग में तूने मुझे जलाने की कोशिश की है, समझ में नहीं आता कि उसे किस रूप में लूं. अपनी आंखों में बहुत कुछ लिये किसी आशा से मेरी तरफ ताकती ये चंद पंक्तियां. . .

कुछ समय के लिए मेरी यह धारणा बन गयी थी कि इंसान के विद्रोह एवं आत्मविश्वास की भी एक सीमा होनी चाहिए. यदि इनको किसी सीमा में नहीं बांधा जा सकता है तो इंसान का शरीर हाड़-मांस से न बना होकर इस्पात का बना होना चाहिए. उसे वटवृक्ष की तरह एकदम भावहीन होना चाहिए, क्योंकि हाड़मांस का शरीर लेकर जमाने को, हालात को पछाड़ देने की कोशिश में यदि वह सफल नहीं हो पाता तो उसकी स्थिति बहुत ही दयनीय हो जाती है. एक त्रासदी बूंद-बूंद करके उसका रक्त चूसने लगती है. उन दिनों मेरे साथ भी ठीक ऐसा ही कुछ हो रहा था. . .

अपने सिद्धांतों के लिए नौकरी से त्यागपत्र देने के लिए जहां मन के किसी कोने में एक गर्व का भाव था, वहीं पिताजी का अपमानित चेहरा भी मुझे हमेशा आतंकित किये रहता था. एक ओर जिंदगीभर तपस्विनी का जीवन जीने वाली मां थी तो दूसरी ओर मेरी तरफ ताकती उनकी सूनी-सूनी आंखें थीं. एक ओर जहां सिर्फ निराशा थी, कुंठा थी. दूसरी ओर रिटायर्ड एस.डी. एम. साहब की तपेदिक से पीड़ित सबसे छोटी बेटी और उसके आंचल से बंधी हाईस्कूल की यह टीचरी थी. एक दिन, जब मैं दिन भर का थका-हारा शाम को लौटा तो पिताजी ने मुझे बहुत लताड़ा. इतना कि मैं दूसरे कमरे में जाकर फूट-फूटकर रोने लगा. अपने बाल नोचने लगा. मुझे याद नहीं, कब मैं फर्श पर गिर पड़ा और मेरे माथे से खून की धारा फूट पड़ी. जब मुझे होश आया तो अपने माथे पर किसी की ठंडी हथेली का स्पर्श महसूस किया. देखा तो मां मेरा सिर अपनी गोद में रखे रो रही थी. उस वक्त जिंदगी में पहली बार अपने को इतना कमजोर, इतना असहाय महसूस किया था.

अगले ही दिन मैं उस बीमार लड़की को अपने घर ले आया था, क्योंकि उसके आंचल के साथ यह नौकरी बंधी हुई थी. और नौकरी से मैं मां-बाप की निराशा को काफी हद तक दूर कर सकता था.

दोस्त, मैं तुम्हारे पांच सौ रुपये वापस भेज रहा हूं, क्योंकि जिस बहाने से तुमने ये रुपये मुझे दिये थे, अब वह बहाना नहीं रहा. जिस दिन मैं तुम्हारे यहां से लौटा था, उसी शाम मेरी पत्नी की मृत्यु हो गयी. सुरेश, मैं सौगंध खाकर कह सकता हूं कि मैंने उसको बचाने की हर संभव कोशिश की. मैंने उसे थोड़ा-सा सुख देने के लिए न जाने कितनी तकलीफें उठायीं. मैं अब सोच रहा था कि मकान बेच दूंगा ताकि उसके लिए कोई कमी न हो, लेकिन . . . मैंने उसे कैसी भी परिस्थितियों में अपनाया था, पर वह मेरी पत्नी थी. वह मर गयी है, लेकिन मैं जानता हूं कि वह एक गर्व का भाव लेकर मरी है. सुरेश प्लीज, बुरा मत मानना. वह लड़की मेरी कायरता की सजा के रूप में मुझे मिली थी, मैंने वह सजा भुगती. . . लेकिन मेरी कायरता की सजा तुम क्यों भुगतो!

तुम्हें जानकर प्रसन्नता होगी कि उसकी मौत मेरे अंदर मरे हुए सोमेश को जिंदगी दे गयी है. मैंने नौकरी से त्यागपत्र दे दिया है."

वह वापस शहर आ गया. उसने मकान भी बेच दिया और हॉस्टल में रहने लगा, क्योंकि उसने पी-एच.डी. करने का फैसला कर लिया था. ऐसा उसने मुझे स्वयं आकर एक दिन बताया, लेकिन उस दिन के बाद उसमें फिर कभी मेरी मुलाकात नहीं हुई. उसने मेरे अहं को लहूलुहान किया था. मेरे प्यार को अपमानित किया था. वह अगर अविजित बनना चाहता था तो मेरी भावनाएं भी किसी की गुलाम नहीं थी.

चार साल के बाद एक सुबह मैंने अखबार में पढ़ा कि सोमेश ने आत्महत्या कर ली है. उसी दिन उसका पी-एच.डी. का रिजल्ट भी निकलने वाला था. सिर्फ एक छोटी-सी जानकारी कि पिछली रात वह हॉस्टल के ही चार-पांच लड़कों के साथ कहीं गया था और फिर वे सब रात को करीब दो बजे लौटे थे. सुबह उसका शरीर पंखे से लटक रहा था. अखबार ने इसे आत्महत्या नहीं क्रूर हत्या बताकर एक बहुत बड़ी 'कांसपिरेसी' बताया था. अंत में लिखा था कि एक और प्रतिभा का अंत हो गया है, पर मुझे न जाने क्यों लगा कि उस प्रतिभा का अंत इसी तरह होना था. □

● केशव राम

गढ़वाल (उत्तर प्रदेश) के एक पिछड़े गांव में जन्म. इसी वर्ष दिल्ली विश्वविद्यालय से बी. काम. किया है. निरंतर संघर्ष करते हुए अपने पैरों पर खड़े होने की इच्छा.

प्रोत्साहन पुरस्कार : पांच

"सिरकार, मैं कुम्हार हूं. मोको ईंट बनावे जमीन और करज दिलाओ!"—यह आवाज है हर उस मेहनतकश आदमी की जो शहर की तरफ न भागकर, गांव में ही रहते हुए गुजर-बसर करना चाह रहा है. मगर यह आवाज अपना दम-खम खोती जा रही है लगातार. . . आखिर क्यों ?

हवाई जहाज

राजनारायण बोहरे

वह ऊब गया था. दो घंटे से कोतवाली में बैठा वह थानेदार साहब की बाट जोह रहा था. उसका गांव पत्थरपुर इसी कोतवाली में लगता था और आज मजबूर होकर वह रिपोर्ट दर्ज करवाने आया था.

एक निगाह उसने थाने के कारिंदों पर फेरी जो काम न होने के कारण ऊंघ रहे थे. और फिर वह अपने ही भीतर की सोचों में डूब गया.

उसकी उमर के अधेड़ लोग अपने-अपने घरों में आराम फरमा रहे थे. सबने काम करना छोड़ दिया था. खासतौर से उसकी परजापत बिरादरी में तो इस उमर के लोग अपने बच्चों के आसरे काम-धाम छोड़कर निश्चित हो जाते थे. लेकिन वह किसके भरोसे काम छोड़े—बब्बू के भरोसे या फिर गनेश के भरोसे. . .?

दोनों ही तो गंवार निकले. बब्बू को कितनी हसरत से पढ़ाया था. मजूरी करके उसने बब्बू की किताबों और फीस के रुपये भरे थे. सोचा था बिरादरी में पहला लड़का बी. ए. कर रहा है, अपना और खानदान का नाम उबारेगा. मगर कहां ? बब्बू का दिल तो उसकी नयी-नवेली बहुरिया में लगा था. सो, जैसे-तैसे वह थर्ड डिवीजन पास हो पाया था. और अब दर-दर मारा फिर रहा था.

उधर गनेश की जब से लगन करी, बड़े भाई की तरह उसने भी पढ़ाई से आंख फेर ली और 'इस्कूल' छोड़कर एक बनिया की दूकान पर चाकरी कर ली. उसने कितना समझाया कि लल्ली अपना खानदानी पेशा करो, चार बरतन बनाओ, मूरती-पुतरिया बनाओ. काहे को गैर की चाकरी करे फिरते हो. मगर दोनों ने एक न सुनी और उससे कह दिया, "तुम चुपचाप घर में बैठकर रोटी खाओ. हम जानें हमारो काम जाने. कछु खोपड़ी पै धरके नई ले जाओगे. . .जा जमीन-जैजात."

वह चुप हो गया था. 'कछु' न करते हुए वह दिन बिताने लगा था. पंद्रह दिन बाद की बात है कि दोनों बहुरियों में खटपट हो

गयी और दोनों अलग होने को झगड़ने लगीं. पंच बुलाकर उसने दोनों का बंटवारा कर दिया. 'अच्छी रही कि इनकी महतारी पहले ही सुरग सिधार गयी, नहीं तो जीते जी लाजन मर जाती!. . . उसने मन ही मन सोचा था.

एक-एक पखवारा उसे दोनों भाइयों के यहां खाना खाना था और एक माह बाद ही उसे लगने लगा था कि वह खैरात में रोटी खाता है. बहुएं उसे ससुर समझकर भोजन नहीं करातीं बल्कि बेगारी समझती हैं. दिन भर उसे दोनों घरों की टहल करनी पड़ती.

खैर, अभी तो उसके हाथ-पांव चलते थे. उसने अपना 'चाक' और 'हीथा' संभाला और पुरानी जजमानी के गांव पत्थरपुर को चल पड़ा. गांववालों ने किंचित आश्चर्य से उससे पूछा, "अरे रतना, अब बुढ़ापे में ये सब काहे को कर रहे हो. इतनी तिसना मत करो, कौन खोपड़ी पै धर के ले जाओगे. मजे से घर रहो. . . दोनों बहुओं के हाथ की चपाती खाओ."

वह चुप रह गया. कौन अपनी जांघ उघाड़े और आपई लाजन मरे. वह इतना ही बोला था, "भैया, मैंने जिनगी भर काम करा, सो अब बैठे-बैठे हाथ-पांव दूखन लगे हैं."

गांव में पहुंचे दो-चार दिन हुए थे कि एक दिन तहसीलदार-सा आये. पटेल के दरवाजे पै सिगरो गांव जुटो थो. तब कह गये कि अब हल्की जाति-बिरादरी वारों खों सिरकार पैसा बांटेगी कि वे धंधा रुजगार करें. कुम्हारन्ह को बरतन बनावे, ईंट बनावे पैसा मिलोगो."

उस दिन हुलफुलाहट में उससे खाना न खवा था और दूसरे दिन वह तैसील्दार के इजलास में जा पहुंचा था. दरखास लगाके बुलावे पै उसने तैसील्दार-सा से विनय करी थी, "सिरकार, मैं कुम्हार हूं. मोको ईंट बनावे जमीन और करज दिलाओ."

तैसील्दार-सा ने मोटे चश्मा के पीछे से अपनी आंखें झपकायी थीं और बोले थे कि गांव में ऐसी जमीन देख लो जहां ईंट बना सको. पटवारी को जमीन दिखा देना.

वह तैसील्दार-सा के पैर छूकर लौट आया था. और फिर पटेल, पटवारी और गिरदावर का ऐसा चक्कर लगा था कि तीन सौ रुपया करज हो गया था तब नदिया के बगल की जमीन पर ईंट बनाने की इजाजत मिली थी. उसने वहां मड़ैया डालकर काम शुरू कर दिया था. गांव के विशाखा साहू से सात सौ रुपया करज और लिये थे.

घनन घनन...! संतरी ने घंटा बजाया और वह चौंक पड़ा. दुपहरिया हो आयी थी और कोतवाल-सा का पता न था. एक इच्छा हुई कि साले की ऐसी-तैसी कराने दो, गांव चलो; पर दूसरी इच्छा ने जोर मारा कि गांव में भी तो बैठनो ही है.

उस दिन वह काम करा रहा था कि अचानक सरपंच पहलवान सिंह आया था और उसके नजदीक आ खड़ा हो गया था. "साला हरामखाऊ!" उसके मुंह से निकल गया. . . भैंसे जैसा मोटा बदन है और जब हंसता है तो लगता है कोई गधा रेंका हो. जब देखो तब नदिया के उस पार आकर बैठ जाता है. गांव के आदमियों में सबसे कांइयां खान है यह. जब बंधुआ मजूरी की मर्दमशुमारी हुई थी तो साफ मुकर गया कि उसके यहां कोई बंधुआ मजूर है, जबकि सिगरा गांव जानता है कि हल्का, कैलास और कपूरा तीन पीढ़ियों से इसके यहां बंधुआ हैं.

एकदम नजदीक आके पहलवान तैश में बोला था, "देख रे रतना, नदिया के जा पार की जमीन हमरी है और तू समझे है कि दूसरे की जमीन पै दखलंदाजी बहुत बुरी होवे."

"अरे जा तो, सिरकारू जमीन है भैया, तुम्हारी कहां से हो गयी?" वह एकदम बोल पड़ा था.

"नाहीं रे रतना, हमारे खाते में बीतें पांच बरस से गैर इजाजत लिख रई है, सो अबकी साल हमारे ई नाम हो जावेगी."

वह मुंह बिचकाकर अपने काम में लग गया था, लेकिन उसी दिन से उत्पात शुरू हो गये थे. उसकी कच्ची ईंटें तुड़वा दी जातीं. सामान गायब हो जाता, पकती ईंटों के भट्टे में पानी डाल दिया जाता. एक दिन तो गजब हो गया. दो आदमी मुंह पर तौलिया बांधे रात को आये और उस पर दनादन लाठियां बरसाने लगे. वह अचकचाकर चिल्ला उठा और गांव की तरफ भागा. किस्मत थी कि बच गया. दोनों लठैत गीली मिट्टी में फंसकर गिरे थे और वह गांव पहुंच गया था.

उसने तैसील्दार से जाकर रोते हुये सिगरा हाल बताया था तो तैसील्दार-सा ने उसे ढाढ़स बंधाकर नायब-सा को जांच करने के आर्डर कर दिये थे.

दूसरे दिन नायब-सा गांव में पहुंचे थे. वे सीधे उसी की मड़ैया पर पधारे थे. उसका बयान लिया और जब उन्होंने पूछा कि किसी आदमी पर तुम्हारा शक तो नहीं, तो उसने कहा था कि पहलवान सिंह सरपंच पर उसे पूरा शक है. अफसरों जैसा मुंह बनाये वे जमीन को नकसा बनाते रहे. उसे नायब-सा देवता से लगे, बेचारे बड़े प्रेम से बोल रहे थे.

लेकिन उसका माथा ठनक उठा, क्योंकि तफसील का काम निपटाकर नायब-सा सीधे सरपंच पहलवानसिंह के घर पहुंचे थे. उसे लगा कि उसके बयान लेने गये होंगे, मगर उसने खुद अपनी आंखों से देखा कि वे सरपंच के यहां पूड़ी-खीर का भोजन कर रहे हैं. अब काहे का न्याय? वह लौट आया. हालांकि यह नयी बात नहीं, हर अफसर सरपंच के यहां ही तो खाना खाता था, लेकिन आज के दिन नायब-सा को या ही करना था. आखिर वे खाते भी कहां ? उसने सोचा. वह तो कुछ भी नहीं पूछ पाया था, उसने सोचा और चुप रह गया.

नायब-सा के गांव से जाते ही पहलवान सिंह सीधा उसके पास आया.

"देख रे रतना, तेरी हरकतें बहुत सहन कर ली मैंने. जा है बंदूक. . . और अबकी बार तूने कुछ उल्टा-सीधा किया तो सीधा परलोक जायेगा!"

परसों वह अपनी मड़ैया से गांव में सोने के लिए लौट रहा था कि पहलवान का छोटा छोरा रास्ते में मिल गया और अपना पालतू कुत्ता उस पर छुका दिया. वह हांफता-कांपता गांव में पहुंच पाया था.

थाने की लाईट जल गयी थी और दो-चार सिपाही आकर बैठ गये थे. उसने एक सिपाही से पूछा, "हैड-सा ! थानेदार-सा कब आयेंगे?"

"अरे ससुरे, तू यहां ऐसी-तैसी करा रहा है. जा तू उनके बंगला पर चला जा. अब रात को वे काहे को थाने लौटेंगे." सिपाही बोला था.

वह रुआंसा हो आया था. एक निश्वास खींचकर अपनी पोटली उठाकर वह जाने को खड़ा हो हुआ ही था कि थाने के दरवाजे से थानेदार-सा अंदर आये.

उसे ऐसा लगा जैसे खजाना मिल गया हो. उसकी प्रसन्नता तत्काल ही समाप्त भी हो गयी क्योंकि थानेदार-सा के पीछे-पीछे गधे जैसा रेंकता पहलवान सिंह भी था.

उसे देख पहलवान बोला, "कोतवाल-सा, ये ई है बोह उतपाती आदमी."

"अच्छा", कोतवाल-सा ने मूंछें मरोड़ीं. फिर एक सिपाही को बुलाया और कहा, "अरे भजनसिंह, इते अइयो, देख इस उतपाती आदमी ने गांव में उतपात मचा कर गांव की नींद हराम कर रखी है. स्साला गुंडागर्दी करता है. ले जाकर हवालात में बंद करके सब भुला दे. हां, साले का हवाई जहाज बनाइयो."

उसने बाहर भागने की कोशिश पर भीमकाय भजनसिंह ने उसे जा पकड़ा और भीतर की ओर घसीटने लगा, जहां छत में लगे चार कुंदे उसका इंतजार कर रहे थे, हवाई जहाज बनकर टंगने के लिए. □

● राजनारायण बोहरे—शासकीय महाविद्यालय, गुना (मध्य प्रदेश) के विद्यार्थी हैं. उन्हें अपनी इस कहानी पर महाविद्यालय में स्थापित 'सारिका कहानी मंच' की स्थानीय प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ.

प्रोत्साहन पुरस्कार : छह

एक सवाल है—अगर कोई युवती किसी युवक से प्रभावित होकर लाज भरे शब्दों में कहे, "आय लव यू. . . .वेरीमच !" तो क्या उसे जीवन संगनी बनाने के लिए उसका यह स्वीकार हो। काफी होता है, या सोचना पड़ता है और भी बहुत कुछ ?—एक युवा छात्र-मन के उद्‌गारों को रेखांकित करती कहानी. . . .

सुबह

आशिष बनर्जी

दस बजने में पांच मिनट बाकी थे. रोज की तरह कालेज-गेट पर बस आकर रुकी. दूर से आनेवाले सभी छात्र-छात्राएं बस से उतरकर बाउंड्री में प्रवेश करने लगे. कुछ आपस में किसी बात पर हंस रहे थे, कुछ में फिल्मों की चर्चा हो रही थी, तो कुछ गोल लगाने का प्लान बना रहे थे. हमेशा की तरह आलोक सादगी भरे वस्त्र पहने हुए था और क्लास की ओर बढ़ रहा था. उसके वस्त्रों में कभी भी उल्टे-सीधे फैशन की झलक नहीं मिलती थी. मगर वह स्मार्ट था. बात ऐसी भी न थी कि उसे आसपास या रोजाना होनेवाली घटनाओं के बारे में मालूम न हो. वह हर बात, हर घटना को समझता जरूर था मगर कभी भी किसी से बहस नहीं करता था. अभी वह विभाग की सीढ़ियां चढ़ ही रहा था कि एक मधुर स्वर कानों से टकराया, "गुड मार्निंग, आलोक!" और उसके बगल से मुस्कराती हुई, सेंट की खुशबू फैलाती शालिनी निकल गयी थी. न चाहते हुए भी उसे मुस्कराना पड़ा.

क्लॉस में पहले से ही काफी छात्र-छात्राएं विराजमान थे. कुछ छात्र, छात्राओं की ओर देखकर न जाने क्या-क्या कहकर हंस रहे थे. कुछ एक-दूसरे पर ही फब्तियां कस रहे थे. और कुछ जो अधिक रोमांटिक थे वे छात्राओं के पीछेवाली पंक्ति में बैठने के लिए संघर्षरत थे. शालिनी अपने सहेलियों के साथ बात करते-करते आलोक को जरूर देख लेती थी. यह उसकी आदत-सी बन गयी थी. उसके बिना शायद उसे चैन नहीं मिल पाता था. तभी पहले पीरियड के विषय के प्रोफेसर साहब ने प्रवेश किया और सब खामोश हो गये.

शालिनी मुकर्जी, आलोक को दिल ही दिल प्यार करने लगी थी. न जाने क्यों, बाकी लड़कों से आलोक उसे अधिक पसंद था. उसके लिए ऐसा सोचना स्वाभाविक ही था, क्योंकि आलोक का भोला-भाला मगर सूरज की तरह ओज भरा चेहरा, उसका हंसमुख स्वभाव, उसके सभ्य एवं स्वच्छ विचार हर किसी को आकर्षित करने के लिए काफी थे. शालिनी उसे अपने दिल की बातें कहने के लिए कभी-कभी बहुत उतावली हो उठती थी. लेकिन वह ऐसा कर नहीं पाती थी, अपनी सहेलियों के कारण. उसे इस बात का डर भी रहता था कि कहीं कालेज में बात फैल न जाये. वह फक्क जरूर थी मगर न जाने क्यों आलोक से मन की बात कहने के लिए भूमिका नहीं बांध पाती थी. उसकी इच्छा होती थी कि वह भी फिल्मों के प्रेम में डूबे नायक-नायिका की तरह आलोक के साथ शहर से दूर किसी नदी किनारे खड़े घने वृक्ष की छाया में अलिंगनबद्ध होकर झूमे-गायें! . . .

खुले नीले आकाश पर आधी रात का जवान चांद मुस्करा रहा था. चारों ओर के वातावरण में चांदनी की शीतलता छायी हुई थी. अलमस्त बहती ठंडी पवन बाग-बगीचों से फलों की खुशबू चुरा लायी थी.

ऐसे आनंदमय वातावरण में पूरा शहर नींद रानी की गोद में दिनभर की थकान को भूलकर मदहोश-सा सो रहा था. घड़ी की टिक-टिक करती सुइयां ग्यारह बजकर पैंतालिस मिनिट पर रुककर फिर से आगे बढ़ने लगीं. बिस्तर पर पड़ा आलोक अभी जाग रहा था. उसके दिमाग में मची ऊथल-पुथल उसे सोने नहीं दे रही थी. उसके दिमाग में आज कालेज में घटी घटनाएं 'आटो-रिवर्स' की तरह घूम रही थीं.

आज रिसेस की ही तो बात है जब उसने राकेश से कहा था, "आखिर लड़कियों के पीछे घूमने से तुम्हें मिलता क्या है ? क्या तुम सोचते हो कि वे तुम पर मर मिटेंगी और तुम्हारी जीवन संगिनी बन जायेंगी ? कोई भी लड़की इतनी बेवकूफ नहीं होती." उसकी बात पर वहां मौजूद सभी छात्र हंस पड़े थे, जैसे कोई मजाकवाली बात हो गयी हो. एक ने व्यंग्यभरे लहजे में कहा था, "लो, फाईनल ईयर में पहुंच गये मगर इन्हें यह नहीं मालूम की एक लड़का एक लड़की के पीछे क्यों घूमता है और क्या चाहता है." उमेश ने छींटा कसा था, "जनाब, हम भी इतने बेवकूफ नहीं हैं कि उनसे शादी कर लें. अरे, ये तो खूबसूरत रंग-बिरंगी तितलियां हैं, इनके परों में हाथ लगते ही इनके खूबसूरत रंग निकल जाते हैं और फिर ये बेकार हो जाती हैं." आलोक को लगा था जैसे उसे किसी ने उठाकर गंदे, सड़न एवं बदबू से भरे नाले में डुबो दिया हो, जहां उसके इर्द-गिर्द भयानक कीड़े घूम रहे हैं, जो इस नाले की सड़ी हुई काई हर रोज खाते हैं. न अपना कोई ईमान न अपने मां-बाप की इज्जत का खयाल. अपनी इज्जत, अपने भविष्य को अपने ही पैरों तले कुचलनेवाले, क्या यही हैं समाज के युवक? अगर यही सब कुछ इनके अपनों पर से गुजरे तो क्या ऐसा करनेवालों को शाबाशी देंगे ? काश, ये समझ पाते उस दर्द, उस पीड़ा को जो इन भड़कीली रोशनियों के पीछे छिपे अंधकार में उनका इंतजार कर रही है.

दूसरी घटना ने तो उसे झकझोर ही डाला था. उस समय तो वह आश्चर्यचकित ही रह गया था, जब शालिनी ने नजरें झुकाकर, शर्म के कारण लाल चेहरे पर थरथराते होंठो से कहा था, "आय. . . . .लव यू. . . . . आय लव यू वेरीमच!" उसे लगा था मानो किसी ने उसके जिस्म से बिजली के नंगे तारों को छुआ दिया हो. वह कुछ भी तो नहीं बोल सका था. इस एक ही अप्रत्याशित वाक्य ने उसे मूक-सा बना दिया था. यही बात उसे परेशान किये हुए थी कि कल वह शालिनी को क्या जवाब देगा. हालांकि शालिनी देखने, सुनने में अच्छी थी और हमेशा काफी अच्छे नंबरों से पास होती थी, लेकिन यही सब कुछ तो पर्याप्त नहीं होता है किसी को जीवन संगिनी बनाने के लिए.

समाज में हमारे चारों ओर का वातावरण ही हमें प्रेम-रोग से ग्रसित कर एक-दूसरे से प्यार करने के लिए मजबूर करता है, और फिर यही समाज हमें भला-बुरा कहने से भी नहीं चूकता. कितनी अजीब बात है कि जब हम कोई चीज खरीदने जाते हैं तो हमेशा अपनी पसंद की ही खरीदते हैं, दूसरों की पसंद हमें अच्छी नहीं लगती. प्रत्येक विषय के प्रति हमारा स्वयं का एक विचार होता है और अगर कोई इसे गलत मानता है तो हमें बुरा लगता है, तो फिर हमारे माता-पिता, जो हमें बचपन से प्यार देकर बड़ा करते हैं और हमें अपने विचारों एवं आदर्शों के अनुरूप ढालना चाहते हैं, उनको कितना सदमा लगेगा, अगर हम उन्हें ठेस पहुंचायें! क्या ऐसा करना उचित होगा ?

हमारी तरह न जाने कितने युवक एवं युवतियां एक-दूसरे से प्यार करते हैं और फिर शादी भी कर लेते हैं, एक सुखी और आनंदमयी जीवन जीने के लिए.लेकिन क्या वाकई उनका जीवन सुखमय हो पाता है ? एक ही जवाब मिलता है—नहीं ! क्यों होता है ऐसा. . .? केवल इसलिए कि हम अपने प्यार के हर पहलू के बारे में तो बड़ी गहराई के साथ सोच लेते हैं मगर आनेवाले भविष्य के, सुगंधित फूलों से भरे बगीचे में उठनेवाले उस तूफान के बारे में नहीं सोच पाते जो बसंत को पतझड़ में बदलने के लिए तैयार हो रहा होता है. उसे अच्छी तरह याद है वह दिन जब उसकी मौसी की शादी सभी कुछ ठीक-ठाक होते हुए भी पक्की होते-होते रुक गयी थी, केवल इसलिए कि लड़केवालों को कहीं से खबर मिली थी कि इस घर की बड़ी लड़की से यानी उसकी मम्मी ने जो कि बंगाली है, एक पंजाबी के साथ शादी की है. परिवार एवं रिश्ते के लोगों ने ही कितना भला-बुरा कहकर मम्मी-पापा को कोसा था, और ऐसा होना स्वाभाविक ही था क्योंकि हर माता-पिता अपने बेटे एवं बेटी की शादी ऐसे घर में कभी नहीं कर सकते जहां जातियता का जहर फैला हो, जो उन पर भी असर दिखला सकता हो. और फिर इस माडर्न युग के समाज में अपना स्टैंडार्ड भी तो बनाये रखना पड़ता है. उसके बाद हर वर्ष घर में बड़ी धूम-धाम से होनेवाली लक्ष्मी-पूजा में भी तो मम्मी-पापा को नहीं बुलाया था घरवालों ने. कितना रोयी थीं मम्मी. हर जगह उन्हें मिलती थी वही संदेह से भरी घूरती आंखें, वही फुसफुसाते होंठ.

उस मनहूस दिन की याद आते ही उसके मन के किसी कोने से एक टीस उठती है जो सोये हुए दर्द को एक बार फिर से जगा देती है. कितना निरीह क्षण था वो, जब उसके साथियों में से ही एक ने उस पर कीचड़ उछाला था, "ये तो साला क्रॉस है. . . !" उफ! कितनी गहरी चोट लगी थी उसके स्वाभिमान को ! उसके दिलो-दिमाग झन्ना उठे थे. पहली बार उसे इस जहर की कड़वाहट का पता चला था. घर आकर स्वयं को कमरे में बंद कर घंटों रोया था वह. उसका हृदय पागलों-सा चीख उठा था कि हां, वो क्रास है. . . क्योंकि वो ऐसे दो जिस्मों से पैदा हुआ है जो अलग-अलग जाति के हैं. . . अलग-अलग भाषा बोलते हैं . . . लेकिन. . . लेकिन क्या ये दोनों जिस्म इस पृथ्वी पर एक ही प्रकार के तत्वों से मिलकर पैदा नहीं हुए ?. . . फिर विचारों में इतनी कटुता क्यों ? . . . क्यों ?

जब समाज आधुनिकता की राह पर चल रहा होता है तो उसमें इसी तरह की गलत-फहमियां पैदा होती हैं. हम जैसे युवक एवं युवतियां उन नयी रंग-बिरंगी रोशनियों की ओर भागे चले जाते हैं, जिनके चका-चौंध प्रकाश से हमारी ज्ञान रूपी आंखें बंद हो जाती हैं. और हमें उन रोशनियों के पीछे अंधकार में छिपे नारकीय जीवन का आभास ही नहीं हो पाता है. हमारी समझ में सब कुछ तब आता है जब हम इस अंधकार के भूल-भुलैया में खो चुके होते हैं. जहां से निकल पाना असंभव हो जाता है. और हमें वहीं घुट-घुटकर मौत की गोद में मौत से पहले ही सो जाना पड़ता है, एक मजबूर, असहाय पंछी की तरह!

तो क्या वह इन हादसों को फिर से मौका दे अपनी जिंदगी पर से गुजरने के लिए ? नहीं, वह ऐसा कभी नहीं होने देगा. बस, यही तो वह कारण है जो मम्मी और पापा के बीच कभी-कभी खामोशी की एक अजीब-सी रेखा खींच देता है. वही एक सवाल गूंजता रहता है. . . उनका प्यार तो सच्चा, निर्मल था, फिर ऐसा क्यों हुआ ?. . . क्यों ?

उसे जवाब मिल गया था. हर पल उसका मन दृढ़ होता जा रहा था. वो यह सब दोहराने नहीं देगा. अज्ञान के अंधकार में अपने और शालिनी के जीवन को वह खोने नहीं देगा. उसे आज मिला है वह प्रकाश जो उसे इस अंधकार से निकालकर एक नयी, खुशी से भरी, सुबह की ओर ले जाना चाहता है. वह समेट लेगा इस प्रकाश को, अपने जीवन में एक नयी सुबह लाने के लिए. और. . . उसने बढ़ा ही दिये अपने कदम उस नये प्रकाश की ओर जो आ रहा था एक नयी सुबह के नये सूरज से. □

● आशीष बनर्जी, शासकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय जबलपुर (म.प्र.) में बी. ई. (अंतिम वर्ष) के विद्यार्थी हैं

हम वायदा करें और उसे पूरा न कर पायें तब हमारे मन में एक अपराध बोध पैदा हो सकता है लेकिन वे कौन से कारण हैं जो बगैर किसी वायदे या बात के मन को अपराध भाव से भरते रहते हैं?

विचित्र अपराध बोध से जूझते एक युवा की दास्तान एक युवा कलम से.

इ का कइले रे निस्तनिया

अशोक कुमार

कमरे में घुटन बढ़-सी गयी थी. उसे लगा, बेपनाह सूनापन उसे झिंझोड़े दे रहा है और वह भी अपनी सुपरिचित शैली में सिर्फ मन को नहीं, बल्कि ऊपर से नीचे तक, भीतर से बाहर तक, एक अनवरत, उबाऊ गति में, जो अनंत-सी होती चली जाती है, अगर हम खबरदार और सक्रिय होकर उसके विरुद्ध खड़े न हों, उसके खिलाफ कोई कदम उठाने की कोशिश न करें. . . वह बिस्तर पर से उठ खड़ा हुआ और कदम उठाये, बेशक, गली की ओर खुलने वाली इकलौती खिड़की की ओर और उसके पल्ले अलगा दिये. दीमक-चाटी खिड़की के पल्लों से भुसभुसाकर कुछ गिरा—सत्तूनुमा—गली से आयी थोक भर सर्द हवा के झोंकों में उसका मुंह भसभसा आया—आंखें पनीली हो गयीं. मुंह से ढेर सारा बलगम निकालते हुए उसने गली में थूक दिया और एक जबर्दस्त खंखार ली, कह सकते हैं, निशीथ की मौन आत्मा को बेधती हुई. आदमकद की छहफुटी गली— जिसके दायीं-बायीं दीवारों से टकराती उसकी करख्त आवाज निश्चय ही गली को पूरी लंबाई तक छू गयी होगी जिससे सड़क पर भूंकते कुत्ते कुछ देर चुप रह गये थे. गली अब शांतप्राय हो चली थी—. . . सुबह कूड़े के ढेर को पैरों से कुरेदता मुर्गा बांग देगा. राख में पड़े चूड़ी और कांच के छोटे-छोटे टुकड़े सुबह की रोशनी में चमकने लगेंगे, चेहरे पर हवा की नमी झेलते हुए लोग आपा-धापी करेंगे और सड़क पर गिरे सेमल के सूखे पत्ते पैरों के नीचे चरमराने लगेंगे.

वह भी सुबह के इंतजार में है. नहीं, रात उसे कभी अच्छी नहीं लगती. ऐसी ही तो होती है हर रात, कहीं प्रश्न उठाकर कचोटने लगती है, कहीं बीती बातों की पोथी खोलकर उबाने लगती है. कमरे के अंधेरे में बिस्तर पर नींद का इंतजार करने का मतलब है अपना साक्षात्कार करना, एक करुण साक्षात्कार, जिसमें पपड़ाये होंठों की सूखी मुस्कान वाली 'वह' अचानक एक सवाल उठा देती है; नितांत अप्रासंगिक-सा, "तुम इसे संभाल सकते हो?"

"किसे," वह पूछता है.

"मुझे विश्वास पक्का जमा था कि तुम डर जाओगे."

"मैं डरता नहीं."

"तो फिर जानते क्यों नहीं कि मैं बढ़ते पेट की बात कह रही हूं."

वह सचमुच डर गया था—अब भी अक्सर कल्पना-मात्र से ही भयभीत हो जाता है. . . बढ़ता हुआ पेट, बढ़ती हुई कोख. उस कोख के प्रति उसकी आत्मीयता क्यों थी? शायद इसलिए कि वह जिसका पाप था, सिर्फ उसी का नहीं था. वह पपड़ाये होंठों पर सूखी हंसी वाली 'वह' का भी था...लेकिन निरर्थक ही तो थी उसकी आत्मीयता! हां, हर अपनापन निरर्थक है, अगर उसमें कुछ कर पाने का साहस पगा हुआ न हो. . . टन्-टन्-टन्. . . कहीं दूर से गजर ने बारह की सूचना दी है. यही वह समय है जब सड़क पर गश्त करनेवाला चौकीदार गली में घुसकर हांक लगाता है. आज कुछ पहले ही आ गया लगता है. गली में कहीं पड़ा होगा—गंजेड़ियों के संग, ठर्रा लगानेवालों के संग या. . . सभी तरह के व्यापारिक कर्मों की धनी है यह गली! अभी-अभी उसने किताब पर से नजरें हटायी हैं. कड़ाके की सर्दी है. वह कंबल में दुबककर खिड़की से सन्-सन् की लय पर आती हवाओं में दांतों की किट्-किट् का ताल दे डालता है. बेसुरा ताल—सन्-सन् और किट्-किट् में तुक कहां! टन्न—एक का गजर बज उठा. सन्न पर टन्न! अब वह पहरुआ भी हांक लगा रहा, अपनी बांस-सी फटी भद्दी और मोटी आवाज में, "जागते रहो-हो-हो-ओ. . . ."

> "दाढ़ीजार, मुंहझौंसा. . ." लछमिनिया की देवी अब मैया पर सवार थी, "तेरे कारण हमारी जिंदगी गारत हो गयी. . .अब आया और जलाने! . . .अब क्या है रे निसतनिया. . .अब भी कुछ बचा है क्या? . . .जब हया ही न रही तो क्या बचा जिंदगी में. . !"

"केहांऽऽ. . . ."

"रहो जागतेऽऽ. . . ."

"केहां-केहां. . ."

"तुम इसे संभाल सकते हो?" वह विस्मयकारी ढंग से चौंक उठता है, जैसे उसके सामने कोई अनबूझ पहेली जाल बनाकर फैला दी गयी हो और उससे बचने के प्रयास में वह जकड़ा गया हो समुद्री आक्टोपस की बाहों में. पल भर वह कुछ कर पाने और न कर पाने के बीच की सूरत लिये रहा, फिर रोते हुए शिशु के प्रति आत्मीय हो उठा—सहज और सजग. उसके मन में मानव-मन के बनते-बिगड़ते संबंधों की तस्वीरें खिंचती चली गयीं—परस्पर उलझी, अस्पष्ट बनावट, नकल और मुलम्मा. . . .अतीत के चित्र उभरते चले—स्मृति के पट खुलते चले—फिर एक बोध—सामीप्य-बोध, आत्मीय-बोध और न जाने क्या-क्या....

"केहांऽऽ. . . केहांऽऽ. . ." फिर वही क्रंदन. सितार के तार पर थिरकती अंगुलियां जैसे कोई सुव्यवस्थित लय प्रदान कर रही हों और खुद अपनी ही एक अंगुली ऐसी पड़ी हो कि वह झन्-झन् के बेसुरा स्वर निकाल पड़ता हुआ रुक जाता हो, घिर रहा वह अचानक दो पाटों के बीच से बहते हुए—"कहीं यह भरम तो नहीं. . .नहीं. . . भरम नहीं. . . ."—एक ठहरा हुआ सत्य. . . सोचते हुए उसने खिड़की की दो छड़ों के बीच अपना बेडौल सिर फंसा दिया. बरफ-सी हवा उसके दोनों कानों को छूते हुए कमरे में भर गयी. कंबल सरककर पीठ पर छाया और हवा के झोंकों में छायी बरफानी नुकीली तेज धार—जैसे—ठंडेपन की सुईयां रह-रहकर उसके सपाट सीने को भेद गयी हों.

"नवजात," कहते हुए वह अजीब कांपा. रोयें एक बारगी सिहर गये और वह निश्चय ही न कर सका कि हवाओं की कारगुजारी थी यह या उस नवजात के विलाप-क्रंदन की कारुणिकता का दारुण विकास.

कमरे से निकल बरामदे में आया. ऊंघती, कुलबुलाती गलियों का बोसीदापन उसे अत्यंत अपनापा भरा लग रहा था. गली में अफाट मुर्दनी छायी हुई थी. टाट-बोरों से छन-छनकर छानेवाली गंदली-सी मद्धिम पीली रोशनी अंजोर के नाम पर वहां अंजुरी भर ही तो थी. रात अंधेरी थी और अंधेरी रात में आंखें फाड़कर या मिचमिचाकर आसपास की चीजों को टटोलने और आभास पाने के जितने भी प्रयास या तरकीबें हैं, उसने सबके सब कर डाले—फिर किया अंगुलियां चटखाते हुए देह तोड़ने का उपक्रम.

वह बरामदे से गली में उतर आया. गली की काई लगी दीवारें—जिनके दोनों पाटों के बीच शोर कहीं दब गया था. शब्दों की चुप्पी और वातावरण का अवसाद उसे पूरा संदिग्ध और विस्मयकारी लगा. साधारण और सामान्य-सी घटने वाली चीजें भी कभी-कभी उसे विस्मयकारी लगती हैं. चीजों से उठनेवाली गंध सहजता की धड़कनों को बेधती है—परत-दर-परत और कुछ कट-कटकर गिरता चला जाता है—बिजली से गिरे ताड़ों के मुंड की तरह—तब उसे विस्मयकारी लगने लगता है वह सब भी जो सामान्य और सहजता का भाव लिये होता है.

केहांऽऽ. . . केहांऽऽ. . . गली टाट फाड़ के आती रोशनी से पीली होती रही और साथ ही उसका चेहरा भी. 'केहां—केहां' की स्वरमालिका के अंतिम शब्द की गूंज पर अटकते-अटकते उसने आसमान पर भी ताक लिया—एक सतही बेचैनी, नैराश्य-भाव. . . केहांऽऽ क्रंदन के सितार का आरोह एक चुंबकीय आकर्षण, खिंचाव, संवेदना की तरंगों का आपस में टकराना, एक लहर में बहना. . . वहां शिशु था—नवजात !. . . गली के सामने छह फुट का अंतराल, फिर उसके सिर में एक फुट ऊंची और समांतर लगातार सड़क की ओर चलती हुई भट्ठी के ईंटों की नोनी लगी दीवार—खपड़ी हुई दीवार के मध्य एक दीया रखा दिखा उसे—जिस पर दीया रखे जाने के निशान भी अब मिट चले थे. रोशनी के रखे जाने की जगह एक टोकरा रखा था जिसके सूखे पुआल में एक बच्चा बेतरतीब ढंग से लिपटा पड़ा था—गोया गौरैये का नन्हा बच्चा—आंधी ने जिसे गाछ से बिलगा रखा हो. पल भर को एक शांत चुप्पी कौंध गयी गली में. लगातार रोता हुआ शिशु हांफते हुए चुप रह गया था—एक क्षण. फिर क्रंदन का सिलसिला. . . शिशु अपने दोनों हाथों-पैरों को समेटता, फिर बारी-बारी से ऊपर की ओर फेंकने का उपक्रम करने लगा. यह देख उसे हंसी छूट आयी. पर उसकी दादी उबले हुए आलू की तरह फट पड़ी थी, "भागऽऽ. . .निसतनिया. बहू की सउरी में घुस आया तू. जाके पहिले नहा, तब कुछ छू." भऊजी के नन्हें शिशु को गुदड़ी पर लिटा 'खी-खी' करता वह भाग जाता. हंसी की एक फुहार हवा के झोंकों पर लहर बना गयी. चुप्पी का एक कोना झरकर गिरा और कुछ क्षणों तक आहत हुआ. फिर एक लंबी उबाऊ चुप्पी मन में अवसाद घोलने लगी. उसने पुआल की पोटली छितरायी—उससे लिथड़ने लगा था एक सफेद लोथ और रिस रहा था मांसल खून—जिसमें प्रवाह था पर टप-टप की जगह सर-सर करता हुआ. उसे संदिग्ध लगा—अंधेरी रात का होना और हवा का थमना—उसे विस्मयकारी लगे शिशु का (क्षण दो क्षण के अनंतर) पैर फेंकना, सिर डुलाना और रह-रहकर बंद मुट्ठियों का हाथ के सहारे ऊपर फेंका जाना. जैसे उतनी ही दुनिया में सिमट गया वह जो टोकरी से शुरू होकर उस तक खत्म हो जाता था.

वह चौंककर देखता रहा—शिशु के कई के फाहों से गाल, मांस

के लोप का सा मध्य भाग, दोनों टांगों के एक जगह कसमसाकर मिलने के स्थान, गौरेये के घुम्मे की सी बंद होती और खुलती अर्द्ध निमीलित आंखें, ललाट के अस्पष्ट से भाग्य-रेख और शिशु की बंद मुट्ठियां—कहते हैं इनमें सितारे कैद होते हैं. सितारे—आकाश के नहीं—भाग्य के चमकीले सितारे—कर्म की रेख से!

कर्म की रेख—धूसर जमीन पर चमकीली फसल—हलों की रेख, बैलों के खुर. . . .लहलहाती फसल—मंडराते टिड्डे और बहती हवा... फगुनहट के पहले की हवा—सर्द और खुश्क. . . लछमिनिया गेहूं की लहलहाती फसल देख रही है—दो बीघे की जवान फसल, छाती में मचती हलचल. वह सोचती—अबकी साल खूब आमद होई. . .एगो गाय किनाई—बगोरा मेला से—माई के बिछिया—बड़ी सबस है पहिनें'क उनका. अबकी बाबू के एगो मिरजई जरूरे किनाऊंगी— तार-तार हो चला है पुरनका." ...उसने अपने लिए कुछ न सोचा था. पर मईया न मानी. बोली, "बेटी, एगो जरीदार लाल घघरा बनवा ले."

बाबू व्यंग्य करते बोले, "हुंऽऽ जे कवनो रकस उठा ले जावे—तोहर सोनामती के." वह लजा-लजा गयी. सोनामती—लाल जरीदार घघरा पहने हुई—कमल-सी कोमल और तपे-तपाये सोने-सी धवल—सोनामती. सोनामती—जो देखती तो बसंत नाचता, हंसती तो मोती झरते. मृगनयनी—खंजन नयन, चमचम हीरे की दंतपंक्तियां, गौर वर्ण, गठी और कसी देह, उभरे उभार के अंग—कसाव—सघन मांसल और ठोस होता हुआ. . . वह लजा-लजा गयी. वह अक्सर लजा जाती है जब उसकी सखियां उसकी तुलना सोनामती से करती हैं. फिर वह उनसे भी आंखें नहीं मिला पाती है—कौमार्य-गर्व या तारी होता नारीपना. . . . कुछ ऐसा है उसमें. . .जो पूरा का पूरा खून मानो चेहरे पर इकट्ठा हो जाता है—वह लाल हो जाती है. तब सोशीला धीरे से गा उठती है—"चकुनी-चकुनी हथिया पर दर-दर अमरिया हेऽऽ......" गेहूं की फसल पर लहर बनाते हुए लछमिनिया गीत की अगली पंक्तियां, गुनगुना रही है—"ताहि चढ़ि आवे दमाद अलबेलवा होऽऽ....."

. . . सोनमती प्रेमी राजकुंवर से ब्याही गयी. राजकुंवर एक गठा सजीला युवा राजकुमार . जिसे देखते आंखें अघायें नहीं, पर—सासू का अंखियां लगली मधुमछिया हे. . .छोड़ि-छोड़ि मछिया देखबि दमदवा अलबेलवा हेऽ ऽ,. .सोनामती के ब्याह में पचीस लाख हाथी, पचास लाख; घोड़ों की सेना दहेज दी गयी. बारात की लौटती . . रास्ते में शाम हो गयी. . .नदी हिलोरें लेती थी. . . आषाढ़ के दिन थे. . . सवेरा हुआ. . . बीहड़ में सेना दौड़ायी गयी—लुटेरों को मार डाला, पर सोनामती खुश न मिली—उसकी आंखों में आंसू मिले. लुटेरे ने नाश दिया था. . नदी पार करते वह उफनती धारा में कूद पड़ी. सैकड़ों जवान बचाने कूदे पर कहते हैं, वह तो गंगा की बेटी थी. फिर. . बिसूरते रंग, बिसूरती तस्वीरें, बिसूरते गीत—चकुनी—चकुनी हथिया प–र दर–दर अम-रिया हे –हे . . ता-हि च-ढ़ि आ-वे दा-मा-द अल-बेल-वा हो-हो,. . सा-सु का अंखियां लग-ली मधु-मछिया है. . . छो-ड़ि-छो-ड़ि-मछिया देख-बि दमद-वा अल-बेलवा हे-हे. . .

. . . एक दारुण प्रेम-कथा. . अपनी अप्रत्याशित परिणति के लिए मार्मिक—पता नहीं, चाचा-बाबा-बो दादी को ऐसी-ऐसी कहानियां कहां से याद हैं. . . ! सुनाने बैठती हैं तो हटने का जी नहीं करता. . ढंग इतना बढ़िया है. . .

. . . सगरो हरियरी. पकती गेहूं की बालियां. . उसका जियरा बाग-बाग हो उठा था. वह अब चुप है—कोयल की कूक और टिटहरी की हूक दोनों एक साथ सुनकर मन जाने कैसा-कैसा हो जाता है. एक ओर, कल्पनाओं की मीठी-मीठी तासीर—बादलों सी उड़ती हुई, अपनी सघनता से आंदोलित और रसोद्रेक कराने का उपक्रम करती हुई. कल्पना के उड़ते पंख. —कहीं दूर से एक राजकुमार आ रहा है—घोड़े पर सवार—राजसी वैभव. . . उसकी डोली सज रही है—सभी खुश हैं. डोली उठ रही है—सभी रो रहे हैं. . . उसकी भी अंखियों के किसी कोने से ढुलक आयी हैं कुछ तरल बूंदें. बूंदें—उभरे हुए कपोलों पर मोती के लड़ियों-सी ढुलकती—लिस-लिसकर लिथड़ता लिज-लिजापन. . . . !

खिन्न मन—जनवरी की वर्षा—बरस जाने के बाद ही पता चले तो चले. "सोनामती. . . . होऽऽ. . . सोना-मती-ई-ई," पूस-माघ की हवा में कमजोर शब्द भी दूर तक जाते हैं—फड़फड़ाते हुए—अपने नवजात रूप में. गेहूं की बालियों पर भूरी मिट्टी से सने हुए शब्द— शीत की हवा में जिनका रूप और भी निखर जाता है—चाहे बिखरी हो सन्नाटेवाली रात या एक साफ दिन. . . लछमिनिया को एहसास होता रहा कि यह संकर यादव की ही आवाज है जिसकी एक आंख मैया की 'निकसारी' में मारी जा चुकी है. चौबे की बंसवारी में वह अपनी गाय बांधता है. सामने बंसवारी-घाट है और गांव की उस अनाम नदी की धारा बही जा रही है—लगातार. रोजाना की तरह वह अपनी गाय बांधता है. गाय—जो गाभिन है—बंसावरी के हरे-हरे पत्ते चबाती है और संकरवा नदी नहाने आती-जातियों पर अपनी एक आंख से बुरी नजर डालता है—"बेहया, बेसरम, तनिक लाज नहीं. . . "

"हीं–हीं.–हीं–हीं."

आज कुबेरा हो चला है—बंसवारी घाट खाली है. जाड़े के आकाश पर छाता हुआ सांझ का कुहरा भयावह लगता है. तिस पर बंसवारी और. . .बंसवारी घाट—नदी-किनारे—बांसों की फुलवारी. महंत की बंसवारी चौबे की बारी से भी बड़ी है. "एक बार घुस जाओ तो आर दीखे न पार." कहता है सरजू हज्जाम, "पर हफ्ते दो हफ्ते इसे हेल कर बगोरा जाना तो लाजिमी है."

बंसवारी के खूंट—बंसवारी के बांस—बांसों के कोमल हरे-हरे पत्ते– लाल-लाल लछमिनिया.. .भागती है. . .चिल्लाती है. . .

. . . हरी पत्तियां तोड़ने-चढ़े चभ्रिरका एक बार गिरे तो कहां—नीचे बंधे गायों के सींग पर और उनकी मुंह की आवाज भी बैलों की पगु-आर और मुअरों की खोभाड़ में ही दब गयी. . .

"पर कारन तो कुछ और है," कहता है रघुबीर तेली, "उ त जबरस्ती करते थे समसू डोम की पुतरिया रामकलिया पर. सछात देवी मइया का बास है महंत की बंसवारी में. सो, अबला का आंचर तक न उतरने दिया. ठट्ठ के ठट्ठ बांस गिर पड़े चभ्रिरके पर. "

लछमिनिया सुमिरन करती है—बचा ल हो देवी मइया. . "एह बंसवारी में एगो बरहमो (ब्रह्म) रहते हैं," घुल्लू घसियारा का कहनाम है, "बड़ी चांड़ है ये बरहम, हमारी खोयी भैंस इन ही के किरपा से तो मिली.". .

महंत की बंसवारी के बारे में लोग तरह-तरह की सोचते हैं. वह सोचती है—सधइया नदी से निकलकर बंसवारी में जाते हुए ठीक ही 'पनबूड़ा' देखता है. पनबूड़ा-संकरवा. . .मंगतू अक्सरहा बंसवारी के बीच जामुन के पेड़ पर जिन्न देखता है—सच है. जिन्न संकरवा . .यहां पंडित ब्रह्म

चाहे नेटुआ ब्रह्म, चाहे बाबा महंत की सशरीर आत्मा—ऐसा कुछ नहीं. बस रात में दिखा घनघोर अंधेरा और सुन पड़ा बांसों के पत्तों के बीच सरसराती हवा की खड़खड़ाहट. . हड़कंप. . . सामान्य व सहज ढंग से 'बंसवारी घाट' से बहते जल की ठहरी-ठहरी तरंगें—बनती लहरें और फिर दूर तक गिरती जाती लहरें. . .बंसवारी के खूंटे, बांसों के सूखे पत्ते और उनके गिरने की आवाज . . .

. . .दाढ़ीजार, मुंहझौंसा, काराक्कसा—तोरा मुंह में करियपठ लगे. . . तेरा सरबनास हो जाये. तू कोढ़ी हो जाये. . .

फिर गाय के रंभाने और पत्तों के खड़खड़ाने का स्वर—इनके बीच लछमिनिया की डूबती-उतराती करुण और लंबी चीखें. एक लंबी गुहार. बचाव की एक आर्त्त टेर, कातरता का स्वर—"बचा ऽ ऽ ल हो काली मइया, बचाऽऽव बंसवारी देवी."

. . .सोनामती बंधी है—रस्से से. बंधे हैं हाथ-पांव उसके. अधमुंदी आंखें जिनमें अनायास आ जाता हुआ—एक क्रूर चेहरा. खौफनाक. . . सोनामती अब महाकाली का विकराल रूप ले चुकी है—खुले केश, छितराये हुए—जिनके बंधने से कुछ और भी बंधता है—संकल्प—कुछ ठान लेना—पता नहीं लौकिक या अलौकिक, भौतिक या अभौतिक.

> "क्या तुम इसे संभाल सकते हो?" उनने यह प्रश्न फिर दोहराया, लेकिन अबकी वह चुप था. . . एक लंबी चुप्पी से गुजरते हुए उसे लगा, जैसे उस लड़की की जगह अब वह आ गया हूं, चुप्पी की शर्त से बंधा हुआ. उसने चाहा कि कुछ शब्द उसके मुंह से निकलें. कुछ भी. लेकिन उसके पास बोलने के लिए शब्द न थे–न स्वीकार न नकार के

. . . झिंगुर झिनझिनाते हैं. . .झिन-झिन. . झिंग. . .बांस चरमराते हैं. . . चर-मर. . चर-मर. . सन्नाटा सन-सनाता है—सांय-सांय. . ! . .संकरवा भागता है. . .लछमिनिया संभलती है—चेहरे पर रौद्रता की रो है. . .देवी है. देवी! . . .बांस के एक सूखे खूंटे में गाय बंधी है—गाभिन-बांस के खूंटे तले एक गंड़ासी पड़ी है—धारदार–. . छपाक! . . . आज पहली बार निशाना चूका है देवी का—जो खेतों से भागते हुए सियार एक भी डंडे न खाये हों लछमनिया के. आज पहली बार चूकता हुआ निशाना—गाय पछाड़ खाकर गिरी पहले, रंभायी बाद में. . . बांऽऽ. . यह दर्द ही था जो गाय के रंभाने की आवाज में साफ-साफ देखा, सुना, तौला और महसूस किया गया था. सीधे-से लगती हुई गंड़ासी फिर-फिर जमीन पर न गिरी. धार की तरफ से चली थी जो—लोथ और गोश्त और कतरा, तीनों को दहलाती, उधेड़ती और काटती हुई. चोट खायी काया और जिगर, दोनों का सम्मिलित रुदन सुन पड़ा—गाय की कातर और बेबस चीखों में. फिर. . .रक्तिम तरल. . . एक धारा बहती हुई—सैलाब मांगता हुआ. . लाललाहूं चिपचिपापना—जिसमें फव्वारे की गति थी और फुलझड़ी का छरछुरापन. . . बांस की जड़ें रंगती जा रही थीं—झड़कर गिरे बदरंग और सूखे और कड़े पत्ते एक नया रंग और नयी लोच पा रहे थे. उसका विचारना लाजिमी था—एक साथ हुई तीन-तीन हत्याओं के बारे में. तीनों पड़े-पड़े चीख रहे थे—गाय, उसकी पेट का लेक और वह (उसका मैं' पना) तीनों मर चुके थे. . . यह किसी को भी सुनकर बड़ा अजीब लगेगा कि जब उसकी हत्या हुई तो उसने दो हत्याएं और कर डालीं. मरा हुआ आदमी और हत्या—दो सिरों की चीजें—यह मुमकिन नहीं. फिर पहले तो लोगों को यही विश्वास न जमेगा कि वह मर चुकी है. लोग उसे कभी मरा न जानेंगे—बल्कि उसके भीतर कोई और पलता होगा—फिर मरना कैसा? . . . फिर यह भी घटना उसके विचार से अपने-अपने ढंग से सोचने की होगी . . उसे गरम पसीना आ रहा है—गरम—खौलती हुई गरमी नहीं—हल्का पारभासीपन (आभास-मात्र)—ठीक उतनी ही गरमी और उतना ही लिजलिजापन—जितना उस गरम लाल तरल का है. उतनी ही गरमी—ठीक उतना ही लिथड़ापन.

. . . वह हंसती है. . . वह रोती है. . . दिमागी पलड़े बराबर नहीं उसके—हर कुछ संभव है. . . वह हंसती है—"हूं! सोनामती!" वह रोती है, "सचमुच क्या सोनामती?" नहीं, लछमिनिया!

"लछमिनिया, चुप रह! रोती क्यों है? भला इससे हमारी कटी नाक फिर जुड़ेगी, गिरी साख फिर उठेगी!" मइया उसकी सिसकियां भरते बोली, "वे बड़े लोग हैं. . . उनके खिलाफ होना हमारे वश के बाहर है. . . वे कुछ भी करें मुआफ है, हमारी इज्जत उनके लिए इज्जत नहीं. . . कनवार का बेटा भूखों मरे, लोग कहें कि माता है. हमारी बातों को पंच भी दोषी ठहरायेंगे. मुंह देखकर पूछ लेते हैं वे भी. जिसका पलड़ा बरियार हो उसी की कहेंगे. नहीं, तमाचा जड़ देंगे गाल पर—पांचों अंगुलियों समेत. . . " रो-रोकर वह अपना दुःख बयान करने लगी. . . पता नहीं, बयान करने को रोना था या रोने के लिए बयान करना जरूरी . . . बापू भीतर आते हुए बोले, "लछमिनिया की मइया! संकर बाबू आये हैं. हजार देते हैं. कहते हैं कहीं सादी-ओदी की बात करो. परासचित का ऊपर से देंगे. गऊ का एक पैसा भी न लेंगे."

"दाढ़ीजार, मुंहझौंसा. . .," लछमनिया की देवी अब मइया पर सवार थी, "तेरे कारण हमारी जिंदगी गारत हो गयी. . अब आया है और जलाने.! . . . अब क्या है रे निसतनिया. . .अब भी कुछ बचा है क्या. . . जब हया ही न रही तो क्या बचा जिनगी में. . . तुम्हारी क्या, दो पैसे से शान जमा लोगे अपनी. . . तुम्हारे कलंक थोड़े ही लगेगा. . . न ही कोई बट्टा. . .यह तो हम ही भुगतेंगे. . . दुखिया का रोवां-रोवां सरापता है . . . जब कोई कलपावे, तब यह सरापे. . . भगवान सब देखता है. . .आन्हर बनाये तुम्हें, कोढ़ फूटेगा तुझे. . . ."

"गलती हो गयी उनसे. . .मानुस से ही तो होती है, परासचित, करने को तैयार हैं," लछमनिया के बापू ने खुशामदी लहजे में कहा, "चुप करो! कहीं बिगड़ न जायें. रुपये ले लेने में क्या हरज है? गांव तो छोड़ना ही. . ."

"तुम छोड़ देना गांव, मैं तो न जाऊंगी. . भला पुरखों का देश छोड़ा जाता है, आफत में भी कहीं कभी. . . मैं लाज से मरी जाती हूं, तुम्हें रुपयें का लोभ है. . .जभी कहती हूं, हत्यारे, कलिख-लगऊना को बाबू क्यों कहते हो?"

"मुंहजोरी न करो, बेहया न बनो इतनी. . . "

"जो कुकरम करे वह न बे-हया, . . . मैं बे-हया हूं. .हूं, मुझ डर नहीं किसी से. . .जा कह दे लड़कपूत से. . . "

दमघोंटू वातावरण के बोझिल हरफ, भारयुक्त शब्द. . . जिनसे मुक्ति ऽऽ. . .संकर बाबू पैर पटकते चले जा रहे हैं. . टेंट गरम है, नामगर हैं. . . मिजाज तो होगा ही.

केहां. . . केहां—ऽऽऽ बच्चा रोता ही जा रहा है. उसे लगता है, एक आदमी को पास पाकर बच्चे ने और भी उत्साह में रोना शुरू कर दिया है, क्यों नहीं, जो काम वह बखूबी कर सकता है, वही तो करेगा पूरे उत्साह में आकर. . . . लेकिन वह देख सकता है क्या? इतनी सी ही तो खुली हैं उसकी आंखें—दो उंगलियों के बीच के छेद जितनी. फिर भी देख ही लेता होगा. मक्खियां भी देख लेती हैं, मच्छर भी देख लेते हैं, जिनकी आंखों का पता ही नहीं चलता. . . .वह आंख मूंदकर भी देख सकता है, बीती हुई उन घड़ियों को जिसमें एक गरम और साफ दुपहरी में दो टूक बतियाने का आग्रह करती जोड़ी भर आंखें हैं. . चेहरे से नाभि तक पसीने की चहचहायी बूंदें हैं. . हाथ में पराछित उतारने की रस्सी है. . . .फिर झोली है. . जिसमें चावल के दाने हैं. . फटी-चिथड़ी झिंगनी-सी साड़ी है. . . एक ललक है बतियाने की. . अपनी व्यथा सुनाने की. . . इस रूप में उसे सबने देखा था, लेकिन जैसे एक सूखे हुए तटस्थ

भाव से. दया कैसी, उसने तो गो-हत्या की है, पराछित तो लगेगा ही, परासचित तो करना ही होगा. इसमें लाज कैसी?

लाज इसमें नहीं. . .रात दरवाजे के पल्ले से लगकर वह जो कुछ भी सुन चुकी थी, वे शब्द बवंडर की तरह उसका गला घोंटने आ पहुंचते. . .रात भर उसके दिल की क्या कैफियत रही, गैर के विचार-तंतुओं के परे की बात है यह! हरहराती दिशाएं, थरथराता शून्य और उसके धड़कन की हर थरथराती कंप उसे भविष्य में आनेवाले किसी अप्रत्याशित खतरे का आगाह कर रही थी. रात उसने दम घुटते हुए तिल-तिलकर बिताया और सुबह सुनती रही पंचों की 'बानी'—"गौ हत्या की है, पराछित-तो लगेगा ही, परासचित तो करना होगा ही . . सवा महीने का मौन . . . . महंगी है, अधिक नहीं. . कमो-बेश पचीस बराम्हन तो जिमाना ही पड़ेगा. . ."

बुढ़ऊ पंडित रमेसर तिवारी अपनी महीन आवाज में मीठी मार करते हुए बोले, "सुभ दिन देख के पूजा का काम हो जायेगा. . ."

भीड़ में से रामदेव प्रसाद ने संकर यादव का पक्ष धरा, "और गऊ की कीमत की क्या बात धरते हैं, पंचो?"

मंगलदेव मिसिर तुनके, "यह तो संकर यादव पर है कि वह क्या कीमत बताते हैं?"

"नहीं दाम भी तो पंचों को ही लगाना है."

"तो गाय का डेढ़ गुना रख लो. . . गाभिन जो थी, हजार की गाय, तो डेढ़ हजार हुए. . ."

"यह मैं कहां से भरूंगा मालिक?" लछमनिया के बापू का चेहरा किसी अनावश्यक संत्रास का शिकार न होना चाहता था. . .उसकी सूरत दयनीय हो उठी—गाल और आंखों के गड्ढे कुछ अधिक धंसे हुए लगे, आंखें बाहर निकली-सी जान पड़ीं. . . पेशानी की तीनों लकीरें और गहरी हो गयीं—फिर उभर पड़ा इन लकीरों में लिपटा वह गूंगा प्रश्न—नियाव—यह एकतरफा क्यों?

"कहां से भरूंगा मालिक?" उसने नाक सिकोड़ते हुए पूछा.

"कहीं से भी," संकर यादव का तमतमाना. . . जो अभिनय हो और जिसके नीचे एक अलग भाव और चेहरा हो—मुस्कराता, ठिठोली करता—ही-ही-ही. . .

केहां. . . हां ऽऽ. . .हांह ऽ ऽऽ. . .

छितरी हुई पोटली. . . हाथ-पैर मारता शिशु. . . उसने शिशु को दोनों मुट्ठियों पर अपनी पकड़ बढ़ाते हुए उसे खोलने का एक हल्का प्रयास किया. प्रयास निरर्थक हुआ (चूंकि हल्का था) और शिशु की मुट्ठियां जकड़ गयीं.

"ई का कइले रे निसतनिया." हवा में कहीं से एक चिर-परिचित आवाज कौंध गयी—चाचा-बाबा-बो दादी की, जो 'निःसंतानी' के अपभ्रंश संबोधन के साथ कर्कश होती, पर सजरी धूप-सी मीठी और गुनगुनी लगती, "सऊरी के लइका को छूते हैं भला. . . जाके पहिले नहा, तब कुछ छू."

उसने शिशु को दोनों हाथों में उठा लिया था—गुदड़ी सहित. . . दादी मारने दौड़ी थी. . यहां कोई झांका तक नहीं और उसने टोकरी और पुआल सहित शिशु को उठा लिया . . हवा के हल्के झोंकों के साथ अचानक गली में एक अपनापा भरी महक छा गयी. ठीक वैसी ही जैसे भऊजी के उस शिशु से निकलती थी—वैसी ही तेज गंध फड़ककर उसके नथुनों में आ बसी और तभी शिशु की एक मुट्ठी उसके गाल के गुलगुले जगह जा लगी—इसमें प्रहार कम था, छू जाने की क्रिया अधिक. पर यह उसे एक तमाचे से कम नहीं लगा—"नाक की छिड़कन छुआ है. जाकर धो ले हाथ." . . . तमाचा जो अपनौती भरा भी हो सकता है या कुत्सा और छीछालेदर भरा भी.

. . . . . तमाचों में छिपा एक अपनापा, वह अपनत्व-भाव, अपनकी गंध—प्रहार कभी-कभी इतने जोर का कि दिन और लम्हों पर इनकी गहरी छापें बैठ जाएं. . .एक अवसादपूर्ण तासीर पलती रही उसके मन में . . . फिर वह चुपके से पुआल की टोकरी जमीन पर रख अपनी कोठरी में चला आया था—क्या बच्चे ने वास्तव में उसे चोट पहुंचायी थी—क्या सच ही उसके गाल कुछ इंच भीतर धंसे थे. . . क्या किसी दुर्दम्य हताशा ने उसके दिल की सारी हुलास हुलसा दी थी. . . . . ?. . . क्यों कर बच्चे की टिहकारी अब उसे अच्छी न लग रही. . . क्यों किसी का जीना-मरना उसके लिए महत्त्वहीन हो गया है. . . लछमिनिया की कथा क्यों कर गड़े मुर्दे की तरह. . . ?

. . . एक गंधमयी आकर्षण, गंधयुक्त खिंचाव—शिशु की गंध. . . ज्यों. . . भऊजी का नवजात शिशु. . . ज्यों लछमिनिया की संतान . . .जो होनी थी. . . नहीं. . . अब जीवन का यह व्यंग्य विद्रूप. . .विडंबना यह कि वह दोनों शिशुओं में साम्य न देख सका था—कहीं इस गंध-योजना की कोई कड़ी टूट गयी थी क्या! . . .अंधेरी रात थी. . . खिड़की खुली. कमरे का दरवाजा बंद था. . . ठंडी हवा वेंटिलेटर से गुजरते हुए सनसनाती रही. . . शिशु रोता रहा था. . .रात गहराती रही थी . . .फिर उकरती रही थी, सामने उसके—एक भरी-पूरी तस्वीर. . .

नदी में बाढ़ आयी थी. . .कछार में पानी ठेल गया था. . .बंसवारी घाट के मंदिर की सीढ़ियों पर पानी की सतह छू गयी थी. . . उसकी डेंगी सिवार और जलकुंभियों से उलझी पड़ी है. . . लग्गी भिड़ाता वह डेंगी आगे खेता है. . . डेंगी मंदिर के पिछवाड़े अड़ंगे लेती है. . .मंदिर के बरामदे से वह अपने डूबे हुए खेतों को अच्छी तरह देख सकता है. . . धूप सीधी आंखों से देखने पर आंखें चुंधिया जाती हैं . . . कुछ ऐसा ही होता है. जब धूप पानी की सतह पर दिखाई देती है. . .अब की आंखों के चुंधियाने का कारण कुछ और था—उससे सहसा विश्वास न जमा कि मंदिर में लछमिनिया ही है. . . . बाल पीठ पर बिखरे हुए—सूखकर कांटा होता शरीर—बिसूरती हुई चेहरे की रौनक, भीतर की ओर धंसी-धंसी आंखें, धंसे हुए गाल, चेहरे पर फैला पीलापन, माथे से बिखरते आपस में चिपटे हुए रूखे बाल—गोया निचुड़ा हुआ देह-सौंदय. . . वह पहचानी न जाती थी!

. . . . मंदिर के फर्श पर पानी में सिवार तैर रहे थे. . .उसका उस गंदले जल में पालथी मारकर बैठना और ध्यानस्थ होना बड़ा अजीब लगा उसे. . .हवा मौन की लपेट में आ निःशब्द हो चली थी . . .कभी-कभी पानी के हिलोरों का हड़कंप शोर बनकर उभरने लगा.

"तुम आ गये," जैसे उसे उसके आने का कोई पूर्वाग्रह बना हो, जैसे उसका आना उसके लिए चौंकाने की चीज न होकर पहले से तय हो. वह चौंक गया था . पर उसकी पलकें हल्की-सी हरकतों के साथ पुनः बंद हो गयी थीं. . .वह असमंजस में था, हालांकि वह प्रश्न उसको ही इंगित कर कहा गया था. फिर भी वह चौंका. उसकी उससे एक सही मुलाकात ही कब की थी. एक सही मुलाकात!—सवा महीने तक प्रायश्चित करना पड़ा था उसे. . . वह मौन रहती (उसे बोलना मना था). . . मरी गाय के गले की रस्सी हाथों में टंगी होती. . . फिर घर-घर जाकर खांसना. . . खांसने का मतलब? मतलब गांव के बच्ची-बूची सब जानते हैं. . .मतलब यह कि उसने कोई गौ मारा है—परासचित कर रही है, कुछ दे दो. . . कुछ का मतलब—चाउर, गेहूं, मकई या अट्टा या और कुछ . . .एक सही मुलाकात!. . .वह दाढ़ी से कहता. . . अम्मां कुछ दे दो. . .लछमिन है. . . लछमिन, लछमिनिया नहीं कहता, बड़ा भला लरिका है. . . वह सोचती. . .

. . . वह जो कुछ भी उसे देता, खाली उतने से ही न मानता. . .कह-सुनकर मकई की लिट्टू, अजवायन और नून और तेल का मकसउदा बनवाकर खाने को दे आता. . . लछमनिया की आंखें. . छलछला आतीं . . भरे गले से खाते हुए वह हर-हर रो देती. . . फिर तरल उमड़ते. . . कुछ बूंदें टपकती. . .उसकी भी आंखें गीली हो जातीं, वह खड़ा रहता. . .वह दूसरे दुआर चल देती. . . कुत्ते भिखारिन समझ भौंकते. बच्चे पगलिन समझ खदेड़ते. . .

उसकी उससे एक सही मुलाकात ही कब की थी—वह सोचता—पंचायत?. . . अजीब हैं उसके गांव के लोग. . . अपने-आपको प्रगतिशील कहते हुए भी जकड़े हुए हैं पुरानी सड़ी-गली मान्यताओं से. . . "पंचो! यह न्याय नहीं है, अब वह जमाना लद गया जब पंडितों पर चमारों की छाया भी पड़ी कि उनका घर उजड़ा होता! ! यह वैज्ञानिक-युग है. . ."

"खाक वैज्ञानिक युग है," एम.ए. संस्कृत, मंगलदेव मिसिर पिनके, "तुम ही एक आई.ए. नहीं पढ़ रहे गांव में, हमने भी कालेज देखे हैं. . . वैज्ञानिक खोजों से पहले के ही अणु-परमाणु की चर्चा वेदों में है. . .हमारे पूर्वज गलत थोड़े ही कह गये—सूरज की ओर मत मूतो. . .वैज्ञानिक भी अब मना करते हैं, नहीं तो रिएक्शन से जहरीली गैस निकलती है जो आदमी को मार देती है . . . मौन रहने की सजा इसलिए कि अगर गाय के कीटाणु इसे लगे हों तो वह भीतर न जायें. . ."

". . . लेकिन सवा महीने तक क्यों?"

". . . इसलिए कि जानवरों के कीटाणु आदमी के कीटाणुओं से विषाक्त होते हैं. . ." वह हताश होकर चुप रह गया था.

तुम आ गये? कुछ क्षण पहले पूछे गये सवाल का हल वह उलझे सिवारों और जलकुंभियों में खोज रहा था. . .वह अब सोच रहा था आभास के होने के बारे में. . . आभास क्या सचमुच अपने आप में होने की एक प्रक्रिया है. होती बहुत-सी चीजें हैं पर सबका आभास नहीं होता. आभास होता है कुछ चीजों का—पर वस्तुतः वे होती भी हैं?

"क्या तुम देवी को मानती हो?" उसने शब्दों को गति दी जो हवा और पानी, दोनों में से एक साथ ही खोये.

"देवी. . . हां, देवी ही तो हूं मैं. . . मुझे आभास हो जाता है—चीजों के होने का. . .लेकिन यह अधिक दिनों तक नहीं होगा. . .मुझे मरना ही होगा आखिर. . ." . . .ढलते सूरज की लाली पश्चिम से होकर पूरब के आकाश में फैल रही थी, लहरों पर यह सब साफ दीखता था झिलमिलाते हुए . . . और वह सोच रहा था देवी के स्वरूप और देवत्व के बारे में. . .

"क्या तुम इसे संभाल सकते हो?" उसने बढ़ते पेट की बात कही थी. समझते हुए भी उसने पूछा था, "किसे?"

"मुझे विश्वास पक्का जमा था कि तुम डर जाओगे".

"मैं डरता नहीं."

तो जानते क्यों नहीं कि मैं बढ़ते पेट की बात कह रही हूं."

"मगर क्या तुम. . ."

"हां, मैं इसे जनना चाहती थी."

"मगर, क्यों?"

"ताकि लोग देख लें बड़ों का चरित्र. . ."

"इससे होगा क्या?. . ."

"कुछ नहीं, लेकिन फिर . . .क्या तुम इसे संभाल सकते हो?" उसने यह प्रश्न फिर दुहराया, लेकिन अबकी वह चुप था. . . एक लंबी चुप्पी से गुजरते हुए उसे लगा, जैसे उस लड़की की जगह पर अब वह आ गया है, चुप्पी की शर्त से बंधा हुआ. उसने चाहा कि कुछ शब्द उसके मुंह से निकलें, कुछ भी. लेकिन उसके पास बोलने के लिए शब्द न थे—न स्वीकार के, न नकार के. स्वीकार के शब्द अपने और अपनों की मर्यादा के नीचे दब गये थे, नकार के शब्द किसी आत्मीयता के नीचे. . .आत्मीयता, जिसके कारण उसके लिए पहचान से परे थे.

वह बड़ी देर तक उसके चेहरे पर टकटकी बांधे रही थी. शायद वह देखना चाहती थी कि इस गुम्मी के गर्भ से क्या निकलता है. शायद वह टटोलना चाहती थी कि यह चुप्पी भी उसी की तरह गर्भवती है या नहीं.

फिर. . .उसे लछमिनिया के होंठों पर व्यंग्य के तिरछेपन का आभास मिला. लेकिन वह था भी? या सिर्फ उसका आभास था? फिर वह बड़े बेतुके ढंग से पीछे मुड़ गयी और वह घर चला आया था. डूबे हुए खेतों और तैरते हुए सिवारों को छोड़कर, सिर्फ कुछ उत्सुकताएं ही शेष थीं जो जेहन को बुरी तरह कचोट रही थीं. . .पानी की लहरों की तरह उठ-उठकर गिरती और कुलबुलाती जिज्ञासाएं. . .

दूसरे दिन उसने किसी को किसी से कहते सुना कि लछमिनिया की लहास बाढ़ के पानी में उतरायी हुई है. . .

. . . सांय. . सांय. . . रात अब सांय-सांय कर रही थी. . .फिर सोच और भय और अंधेरी रात—इन तीनों से डरते हुए आंखें बंद किये कंबल में पड़ा रहा. . . .फिर सो गया था. . .

. . . सुबह गली में कुछ सुअर घुस आये थे—अब गली को अपनी खोमाड़ बना रहे थे. . .रात भर के जगे कुत्तों को इन्हें भगाने को एक बार फिर जुटना पड़ा . . . मुर्गे डर के मारे गली की दीवारों पर चढ़े थे और वहीं से कुकड़ते थे. . .सड़क पर सवारियां दौड़ रही थीं. . .किनारे सेमल के तले ढेर सारी पत्तियां जमा थीं—जो रात भर झड़ी थीं. सबेरे नौ बजे वह कॉलिज चल दिया था. . .गली में ठीक उसी जगह भीड़ जमा थी—सभी एक टोकरी को घेरे खड़े थे जो जमीन पर पड़ी थी. . .उसने भी देखा और कांप गया. गलती उसी की थी, वह चुप रहा. . .रात टोकरे को उसने ही जमीन पर रख दिया था. . ,अब समझ में आया उसे कि रात कुत्ते क्यों अधिक भौंक रहे थे. . . बच्चे का लोथ खून से सना था. . . . . .उसके प्राण पखेरू उड़ चुके थे. . .शिशु के फाहों से गाल नुचे-नुचे थे. . . मांस के लोथ का-सा मध्य भाग खून से सना पड़ा था. . .गोरैये के चूजे की आंखें सदा के लिए मुंद गयी थीं और शिशु की मुट्ठियां—वे खुली पड़ी थीं.—कहां हैं इनमें सितारे. . .भाग्य के. . .कर्म के. . .रेख के. . .उज्ज्वल और चमकीले सितारे. . .

. . . अचानक भीड़ में से किसी महिला ने कहा इका कइले रे. . ., जवनो कइलस ई काहे कइलस रे (जिसने भी किया यह क्यों किया) और बुक्का फाड़कर रो पड़ी.

. . .अचानक, खुली हवा की जरूरत महसूस करता हुआ वह भीड़ और गली में से निकलता है, लड़खड़ाते से कदम सड़क पर पड़ने लगते हैं. . . नहीं-नहीं, मैंने जानबूझकर नहीं किया यह सब—अपने ही कठघरे में खड़ा होकर अपने-आप से कहता है वह और अपने ही न्याय में अपनेआप को गलत पाता है—ई का कइले रे निसनतिया. . . □

● अशोक कुमार सारिका कहानी मंच, पटना महाविद्यालय के संयोजक भी हैं. संप्रति बी. ए. प्रथम वर्ष के छात्र हैं

प्रोत्साहन पुरस्कार : आठ

बिखरता हुआ सच

अलका अग्रवाल

परिवारों का टूटना कोई नयी बात नहीं है. नयी बात यह जानना है कि बीते कल के परिवार क्यों टूट जाया करते थे और हमारे आज के परिवार भी क्यों टूटते जा रहे हैं? पारिवारिक विघटन के वे सूक्ष्म कारण कौन से हैं जो सामाजिक मूल्यों को बनाते-बिगाड़ते हैं?

सब कुछ इस तरह बिखरता जा रहा था, जिसे पुनः एकत्रित करना असंभव-सा होता जा रहा था. घर में एक ऐसी जंग छिड़ चुकी थी, जो यदि विरामावस्था में आती भी तो कुछ क्षणों या कुछ घंटों के पश्चात पुनः सत्यावस्था में आ जाती. यह जंग शारीरिक नहीं, अपितु मानसिक थी. एक बसेरे में रहकर सभी के मन में एक-दूसरे के प्रति विरक्ति का बीजारोपण हो चुका था.

क्या पहले भी ऐसा था? नहीं, पहले तो इस घर के प्रत्येक सदस्य में परस्पर बहुत स्नेह था. उनके हृदय पटल पर स्नेह के ही पौधे पनप रहे थे. कितना अच्छा था वह अतीत, जब एक का दुख दूसरे का दुख था, एक की प्रसन्नता हर एक की प्रसन्नता थी. जहां सुख एवं शांति के पल्लव पल्लवित होते थे, उनका स्थान अब पतझड़ ने ले लिया था. मम्मी-डैडी, दो भाई, दो बहनों का छोटा-सा परिवार.

जब विशम, सौमित, सुरभि, तृप्ति छोटे थे, उनकी हर मांग पूरी होती, किंतु उम्र के विकास के साथ उनकी आवश्यकताओं में वृद्धि होती गयी और उनकी पूर्ति में कमी इससे उपजी अनुशासनहीनता. सुरभि, विशम व सौमित कभी अपनी हार को स्वीकारना नहीं चाहते थे. डैडी सदैव चाहते थे कि उनकी किसी आज्ञा का उल्लंघन न हो. वे सदैव ही अपनी उचित-अनुचित आज्ञा को सब पर प्रत्यारोपित करना चाहते, जो घर के अन्य सदस्यों को स्वीकार्य नहीं था, किंतु तृप्ति इन सबसे पृथक थी. वह तनाव की स्थिति को बचा-बचाकर चलती.

यही सब सोचकर उसका मन बोझिल हो उठा. बोझिलपन को दूर करने हेतु उसने एक उपन्यास उठा लिया तथा स्वयं के अस्तित्व को उसमें डुबो देना चाहा. वह कुछ हद तक इसमें सफल भी हुई थी, क्योंकि बैठक में होनेवाला शोर वह अब कुछ-कुछ नकार सकती थी. तृप्ति की आंखें एवं मन की धारा तो उपन्यास में बंधकर बह रही थी, किंतु कान कुछ और ही सुन रहे थे.

"तुम सब मिलकर मेरा उपहास उड़ाते हो, मैंने तुम लोगों को कुछ ज्यादा ही छूट दे दी, तभी तो मान-मर्यादा भूलकर तुम लोग मुझसे बहस करते हो. अभी तो मेरे हाथ-पैर चलते हैं, भविष्य में यदि मैं लाचार हो गया तो क्या करोगे तुम लोग? मैं पूछता हूं, कल शर्माजी के लड़के अनिल के जन्मदिन पर चले जाते तो क्या बिगड़ जाता! मेरा मान-सम्मान धूल में मिलाने पर तुले हो."

विशम ने व्यंग्य से कहा, "आप सोचते होंगे कि आपका मान है, पर पीठ पीछे लोग क्या कहते हैं, शायद आप नहीं जानते. आखिर आपका मन रखने के लिए कब तक हम अपना मन मारें. अनिल शर्मा के बड़े भाई सुनील ने हमसे झगड़ा किया. क्या उसके बाद भी हम आपका मान रखने उसके घर जाते?"

> **तृप्ति किसी की बुराई को मन की गहराइयों में समा नहीं पाती थी. दोनों भाइयों के विवाह के पश्चात पहली राखी थी. वह स्वयं दोनों भाइयों और भाभियों को निमंत्रण देने गयी थी. उन्होंने निमंत्रण स्वीकार भी किया. उसने न जाने क्या-क्या बनाया. विशम भैया को उसके हाथ का बनाया पाइन-एपल केक बहुत पसंद था. विशेष कर उसने केक बनाया. बहुत इंतजार के बाद दोनों आये लेकिन भाभियां साथ में नहीं थीं...**

"क्या हुआ, जरा-से झगड़े के पीछे यों संबंध-विच्छेद होते हैं क्या? मैं देखता हूं कि तुम लोगों की जुबान बहुत चलने लगी है. मैं जो कहूंगा..." सौमित ने बीच में बात काटकर कहा, "वह नहीं होगा. अब हम बच्चे नहीं हैं डैडी, जो आपके अंकुश में चलें. नाउ वी आर मैच्योर. और मान का सवाल है तो आप खुद क्यों नहीं चले गये?" शब्दों को चबाकर कहा उसने, "आप तोहमत बर्दाश्त कर सकते हैं, हम नहीं."

विशम ने वातावरण में और अधिक कटुता घोलते हुए उपहासपूर्ण लहजे में कहा, "खुद नहीं जा पाये, शायद किसी का आपसी वैमनस्य सुलटाने चले गये होंगे, है न."... ठंडी निःश्वास छोड़ते हुए नाटकीय ढंग से उसने पुनः कहा, "हमारे पिताजी तो कलियुग में अवतरित मर्यादा पुरुषोत्तम राम हैं."

असभ्यता अपनी चरमसीमा पर पहुंच रही थी. डैडी गुस्से में कांपने लगे. मम्मी ने डांटते हुए कहा, "तुम दोनों को इतनी भी सभ्यता नहीं कि अपने बुजुर्गों से किस तरह पेश आते हैं!"

विशम विद्रोहपूर्ण आवेग में बोल उठा, "मम्मी, बुजुर्गों से ही तो छोटे आदर्श ग्रहण करते हैं. कल वो आप ही थीं, जो सुरभि को डांटने की बजाय उसे दत्ता आंटी की इंसल्ट करने के लिए प्रोत्साहित कर रही थीं. उन बेचारी का दोष केवल इतना था कि भूल से उन्होंने आपकी इंपोर्टेड साड़ी को इंडियन कह दिया था, वो भी आपके घर में!"

सुरभि, जो अब तक मूक योद्धा थी, खुद पर हुए कटाक्ष का प्रत्युत्तर देना चाहती थी. इस समय उसने अग्नि को भड़काने हेतु उसमें घी छिड़का, "तुम दोनों एटीकेट्स भूल गये हो, ये भूल गये हो कि मम्मी-पापा से कैसे बात करते हैं." पापा और सौमित कुछ कहने ही जा रहे थे कि कालबेल बजी. मध्यस्थ के पदार्पण से सब अप्रत्याशित रूप से शांत हो गये. खन्नाजी का नौकर आया था, डैडी को उसके साथ जाना पड़ा था. जंग तो रुक गयी थी, किंतु वातावरण अत्यंत तनावपूर्ण हो गया था. सबके मस्तिष्क में आक्रोश का गुबार था, जो अवसर मिलते ही पुनः फैल सकता था. कोई खाना बनाने या खाने की स्थिति में नहीं था. तृप्ति चाहकर भी खाना नहीं बना सकती थी.

दोपहर से शाम हुई और फिर रात ने अपना आंचल पसारा. तृप्ति ने सोचा, शायद अब तक दीदी कुछ सुनने की स्थिति में आ गयी होगी. उसने लेटे-लेटे ही कहा, "दीदी, तुम ही चुप रह जाया करो न!" उसकी बात काटते हुए सुरभि बिफरी, "मुझे शिक्षा मत दे. दर्शन शास्त्र में एम.ए. कर रही है, मालूम है." तृप्ति ने स्थिति को प्रतिकूलता की ओर जाते देखा तो मौन ही कल्याणकारी लगा. वह दर्शन में उलझती चली गयी. न जाने क्या-क्या वह सोच गयी. स्वयं ही प्रश्न कर रही थी, स्वयं ही उत्तर दे रही थी. उसने सोचा—क्या यह वही सुरभि दीदी है, जो उसकी छोटी-सी चिंता से चिंतित हो जाती थी. आखिर क्यों वह इतनी बुरी तरह परिवर्तित हो चुकी है? उत्तर भी उसे शीघ्र ही मिल गया, सुरभि की उम्र तो अपनी लय से बढ़ती जा रही थी, किंतु उसका विवाह तय नहीं हो पा रहा था. तृप्ति को एक महीने पूर्व की ही वह घटना स्मरण हो आई, जब सुरभि को देखने कोई आ रहा था. उसने स्वयं को यत्न से संवारा था. नाश्ता भी अपने पाक-पांडित्य का जिस्ट निचोड़-निचोड़कर बनाया था. कितनी खुश थी वह. मेहमानबाजी में कोई कमी नहीं रखी गई. वे आये, सब कुछ देखा, डैडी एवं लड़के के पिता के बीच वार्तालाप हुआ. उन्होंने कहा, अपना निर्णय वह पत्र द्वारा प्रेषित करेंगे. उनका निर्णय आया, जो अप्रत्याशित नहीं था, न जाने पहले भी कितनी बार ऐसा ही निर्णय आ चुका था. जब उसने दीदी को सांत्वना देनी चाही, दीदी ने पूरा क्रोध उसी पर निकाला. दुखभरी मुस्कान आयी थी उसके चेहरे पर. दीदी की ओर देखा तो वो सो रही थी. तृप्ति भी सोने का प्रयत्न करने लगी.

तृप्ति का एम.ए. प्रीवियस का रिजल्ट डिक्लेयर होनेवाला था. वह कालेज पहुंची ही थी कि ऋचा न जाने कहां से दौड़ती हुई उसके पास पहुंची. वह हांफ रही थी, "तृप्ति.... तृप्ति..."

"पहले सांस ले ले फिर बोलना."

"अरे, इतना धैर्य कहां... देख, मैंने कहा था न कि तू टॉप करेगी. इसी खुशी में कल पिकनिक चलते हैं." तृप्ति चहककर वापस खामोश हो गयी. उसकी आंखों में आंसू आ गये.

"ऐ पागल, तूने टॉप किया, तुझे खुशी नहीं हुई. देख, पिकनिक पर नहीं चलने का कोई नया बहाना ढूंढ़ रही है न!"

"ऋचा, तुझसे अब तक कुछ छिपा है क्या? तू तो सब जानती है. मैं पिकनिक पर नहीं जा सकती. प्लीज ऋचा, डोंट टेक इट अदरवाइज." उसका दुख और भी गहरा हो गया. मुझे खुशी है कि मैंने टॉप किया, लेकिन यह खुशी मैं किस पर व्यक्त करूंगी! प्रश्नात्मक स्वर में उसने पूछा.

मम्मी पर, जो केवल सुन लेंगी या दीदी पर, जो बस औपचारिक रूप से बधाई दे देंगी. पापा और भैया के पास तो हमारे लिए वक्त ही

नहीं. ऋचा भी बहुत उदास हो गयी थी. तृप्ति को जैसे कुछ भास हुआ.

"ओफ! मैं भी क्या बोरिंग टॉपिक ले बैठी. ये बता, आजकल तेरे मयंक के क्या हाल हैं? तू खुश है, तुझे प्रसन्न देखती हूं तो मेरे मन का विषाद विलीन हो जाता है."

ऋचा ने मुस्कराकर पूछा, "अच्छा, तो तूने कभी किसी को अपनी मन की गहराइयों में नहीं बसाया."

"तू जानती तो है, हमारे घर में ऐसी स्थिति है, जहां अपनी इच्छा कुछ नहीं, यहां तो थोपा जाता है. चुपचाप उस आवरण को ओढ़ लो या फिर विद्रोही बनो. तू जानती है कि मैं विद्रोह से कितना दूर भागती हूं." और उसने स्थिति की कटुता को पूर्णतया धो डाला, "मैं तो कायर हूं, लव इज लाइक ए वार. इजी टू बिगिन, बट वेरी हार्ड टु स्टॉप. तू ही फतह कर इस जंग में. मेरा दूर से ही नमस्कार."

तृप्ति बहुत ही प्रफुल्लित हृदय से घर आयी. ममी ने उसे देखते ही कहा, "तृप्ति आज सुरभि को देखने मेहमान आ रहे हैं, जल्दी फ्रेश होकर आओ, बहुत काम शेष है." तृप्ति ने अपनी सफलता की खबर देनी चाही, "ममी मैंने कालेज में टॉप किया है." ममी ने उसकी प्रसन्नता को व्यस्तता के गर्त में दबा दिया. उसका उपेक्षित मन, तिरोहित अहं परिस्थितियों में समर्पण खोजने लगा.

दीदी आज हमेशा की तरह उत्साह प्रदर्शित नहीं कर रही थी. उसने तो पहले प्रदर्शनीय बनने से भी इंकार कर दिया था, किंतु पापा ने उसे मजबूर कर दिया. तृप्ति ने दीदी को तैयार किया, उन्हें लड़की पसंद आ गयी. डैडी एवं लड़के के पिता के बीच वार्तालाप की स्थिति आयी, जो हमेशा आती थी. विवाह तय हो गया. विवाह का दिन भी आ गया, पर न जाने क्यों खुशी एवं प्रसन्नता के वातावरण की सर्वत्र कमी महसूस हो रही थी. एक तनाव-सा सर्वत्र व्याप्त था.

दीदी की विदा का वक्त आया, जिसने तृप्ति एवं दीदी का अहं चूर-चूर कर दिया. कटु अतीत की स्मृतियां पीछे छूट गयीं. सामने था वर्तमान, जिसमें थी बिछोह की वास्तविकता. और बचपन का मधुर स्नेह नयनों के झरने से झर-झर कर बह रहा था.

दीदी अपने नये घर चली गयी, किंतु इस पुराने घर को पहले से भी अधिक तनावग्रस्त छोड़ गयी थी. डैडी को जीजाजी की कीमत अपनी मिल्कियत से अधिक चुकानी पड़ी थी, क्योंकि यदि इस बार भी रिश्ता न होता तो न जाने दीदी डिप्रेशन में क्या कर बैठती. लेकिन दीदी का संसार बसाने के लिए, दीदी को टूटने से बचाने के लिए यहां बहुत कुछ दरक गया था. बसेरे की नींव पहले ही कमजोर हो चुकी थी, हल्की-सी आंधी उसे तितर-बितर कर सकती थी.

दीदी पहली बार ससुराल से अपने मायके आनेवाली थी, कितनी उमंगें थीं तृप्ति के हृदय में. दीदी आयी, तृप्ति ने एक परायापन-सा देखा. वहां तृप्ति की भावनाएं तुच्छ थीं. कुछ ही दिनों के सहवास में ससुराल का रंग बहुत गहरा चढ़ गया था. दीदी की उपस्थिति में ही ममी ने कहा, "तृप्ति, तू तो जानती है कि तेरे डैडी की सर्विस अब पूरी होनेवाली है. उन्हें सुरभि के विवाह में लिया कर्ज भी चुकाना है. तू अब पढ़ना छोड़ दे."

क्या सारी गरीबी सिर्फ उसी के लिए है, बहुत मद्धिम स्वर में उसने कहा था, "ममी प्लीज, ये फाइनल ईयर है, एम.ए. तो पूरा कर लेने दीजिए." दीदी ने भी ममी के स्वर में स्वर मिलाकर कहा, "कुछ तो सोचो घर के बारे में." किंतु इस बार उसने मौन विरोध से एम.ए. पूरा करने का निर्णय ले लिया था.

दीदी की विदा पर पुनः उन्हें मूल्यवान साड़ियां दी गयी. तृप्ति चाहती तो विरोध कर सकती थी, किंतु इस तरह की तुच्छ हरकतें उसे बहुत सस्ती लगती थीं. तृप्ति अंदर ही अंदर कहीं से टूट रही है, इसका हल्का-सा भास उसे था. बस, एक ही संतोष था कि इतने अधिक तनाव में होकर भी घर के सदस्य एक जंजीर में बंधे हुए हैं. क्या हुआ यदि उसकी कड़ियां जर्जर अवस्था में हैं.

डैडी रिटायर हो गये. कुछ दिनों के बाद नयी जीवन-दिशा का बोध उभरा. किसी तरह साथ रहने की आशा एवं संतोष की भावना पनपने लगी थी कि यकायक सब कुछ बिखर गया. विश्राम एवं सौमित भैया ने अलग रहने का निर्णय सुना दिया. स्वाभिमानी डैडी ने विरोध नहीं किया. बस, व्यंग्य से अस्फुट स्वरों में इतना ही कह सके थे, "ये ही तो हैं. . .कलियुग के श्रवण कुमार."

डैडी को पेंशन मिल रही थी. अतः बुरी स्थिति नहीं आ सकी. कल तक तृप्ति की पढ़ाई अनावश्यक थी, किंतु वह आज की आवश्यकता बन गयी. तृप्ति ने एम.ए. में यूनिवर्सिटी में टॉप किया, उसे स्कॉलरशिप मिलने लगी. और प्रो. शिशिर के अंडर पी.एच-डी. आरंभ कर दी. उन्हीं के प्रयास से उसे सर्विस भी मिल गयी.

तृप्ति थकी-हारी कालेज से आती, घर का खाना भी बनाती, क्योंकि मां का स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था. वह दिन उसे अच्छी तरह याद है, जब वह थकी-हारी घर लौटी, ममी ने सूचना दी कि विशा ने कोर्ट मैरिज कर ली है. अप्रत्याशित तो नहीं था, किंतु फिर भी बहुत तीव्र वेदना उभरी थी. उसने क्या-क्या सोचा था, वह खुद दोनों भाभियां ढूंढेगी. दो आंसू टपक गये थे.

ममी ने सांत्वना बंधाते हुए कहा, "क्या हुआ, सौमित की शादी में अपने अरमान पूरे कर लेना." किंतु उसने भी वही किया. मैरिज करके औपचारिक तौर पर आमंत्रण-पत्र प्रेषित कर दिया. मन में जर्जर स्नेह की भावना लेकर वे लोग पार्टी में आये और विरक्ति का भाव लेकर वापस आ गये.

तृप्ति किसी की बुराइयों को मन की गहराइयों में समा नहीं पाती थी. दोनों भाइयों के विवाह के पश्चात पहली राखी थी. वह स्वयं दोनों भाइयों और भाभियों को निमंत्रण देने गयी थी. उन्होंने निमंत्रण स्वीकार भी किया. उसने न जाने क्या-क्या बनाया! विश्राम भैया को उसके हाथ का बना पाइन एपल केक बहुत पसंद था, विशेषकर उसने केक बनाया. बहुत इंतजार के बाद दोनों आये, लेकिन भाभियां साथ में नहीं थीं.

लोहे की तितलियां

■ रविंद्र गिन्नौरे

ओरियाना फैल्सी, इटैलियन संवाददात्री हिंदुस्तानी औरतों को लोहे की तितलियां कहने से नहीं हिचकी. इसके साथ ही इराक, ईरान, मोक्को, पाकिस्तान या किसी मुस्लिम देश में पहुंचकर एक पश्चिमी औरत को पहला ख्याल आता है कि दुनिया में आयी बाढ़ में सभी औरतें डूब गयीं, संजोग से यही एक अकेली औरत बची रह गयी. सचमुच इन देशों में रात को आठ बजे के बाद होटलों, एयरपोर्टों, चलती हुई बसों पर कोई औरत दिखाई नहीं पड़ती, कमरे की झाड़-पोंछ करने के लिए कोई औरत नहीं होती. कपड़े धुलवाने, इस्त्री करवानी हो तो यह काम कोई मर्द करेगा. यहां तक कि पहने हुए कपड़ों के पीछे के बटन बंद करने की जरूरत पड़े तो वह भी किसी मर्द से ही कहना पड़ेगा.

यहां दिन के उजाले में बुरके में बंद औरतें बाजारों-गलियों में भयावह सपने जैसी प्रतीत होती हैं. उन्हीं बाजारों में पश्चिमी औरतें गुजरती हैं तो उन्हें लगता है कि इस तरह खुले चेहरे, नंगी बांहों, टांगों को हजारों आंखें मिलाकर उसके बचे खुचे कपड़ों को उसके शरीर से उतार रही हैं. बुरके वाली औरतें, बिना चेहरे की, बिना आवाज की काली-गठरियां जैसी पीड़ा-सा करती दिखती हैं. इस्लामी आकाश में प्रखर सूर्य की चमकीली किरणों को देखने का सौभाग्य इन औरतों को नहीं होता. उनका जीवन जन्म कोख के अंधेरों से भीतर के अंधेरों तक पीहर से ससुराल के अंधेरे तक. जिन अंधेरों से निकल वे कब्र नीरव अंधकार में दफन हो जाती हैं.

हिंदुस्तान की जनसंख्या में पुरुष स्त्रियों से अधिक हैं. इन उदास और असील औरतों की आंखों में अनकिये अपराध के दंड का भय समाहित रहता है. विश्व में शायद कहीं भी इतनी भोली, छबीली, नम्र औरतें नहीं हैं, पर इसके ठीक विपरीत बात यह भी है कि हिंदुस्तानी औरतें गवर्नर भी हैं. मेयर, राजदूत, सांसद, विधायक भी. अनेकों प्रतिष्ठित पदों में आसीन हैं, परंतु हिंदुस्तान की 'मिस इंडिया' इंद्राणी का कथन है कि मिस इंडिया चुना जाना उसके जीवन का सबसे उदास अनुभव है. फिर भी यह हिंदुस्तान की सब्र वाली औरत जाति की आवाज का प्रभाव है. फ्रांस और इटली की नारियों को 1946 में मतदान का अधिकार मिला. भारत में 1937 में प्राप्त हो गया. 1973 में हिंद मैरिज एक्ट पास हुआ. जिसमें पुरुषों को एक से अधिक विवाह के लिए दंड का प्रावधान रखा. उसके बाद विधवा विवाह विधेयक 1956 में पास हुआ इन सबों के होते हुए भी भारत में आज समय दौड़ने की बजाय रेंग रहा है और ये कानून भी उसी चाल से लागू होते हैं. इन परिस्थितियों को देखती हुई 'फैलसी' कहती है, कि मुझे औरतों को तितलियां कहना हो तो मैं हिंदुस्तानी औरतों को लोहे की तितलियां कहूंगी. जिनमें सब्र-संतोष इतना अधिक है कि विश्व की सभी नारियां इस मामले में उनसे पीछे हैं. □

"भैया, भाभी नहीं आयी.?"

"वो क्या है न, घर में जरूरी काम है, हम लोग पिकनिक पर जा रहे हैं, तू जल्दी राखी बांध."

तृप्ति ने राखी बांधी, प्लेट में केक एवं मिठाई सजाकर लायी, "अरे, अभी खाने-पीने का वक्त नहीं. वी आर गैटिंग लेट." उन्होंने एक-एक लिफाफा पकड़ाया और तीर की तरह बाहर हो गये. दरवाजे पर ममी खड़ी थीं, उन्होंने कहा, "बाय ममी."

"बस, इतना ही है मेरा उनका रिश्ता. अरे अपने, संस्कार भूल गये हैं." तृप्ति ने अनजाने में ही लिफाफे खोले, एक में पांच रुपये थे, एक में ग्यारह. देखा ममी, भैया राखी की कीमत दे गये हैं, उनके पास वक्त का छोटा-सा टुकड़ा भी नहीं हमारे लिए." मां-बेटी दोनों ही खुलकर रोयी थीं. शायद तृप्ति पहली बार इतना रोयी थी.

किसी ने खाना नहीं खाया. रात्रि की नीरवता में उसके विचार न जाने किन कोनों में खो गये. प्रो. शिशिर उसके कुछ भी नहीं, किंतु कितना कर देते हैं उसके लिए, उनके सानिध्य में वह अपने दुख का विकल्प ढूंढती. कितने तनहा थे वे. वह जब भी सोचती, खुद का दुख उसे तुच्छ लगता. उसके पास मां, डैडी थे, किंतु उनका तो कोई नहीं.

एक दिन वह पूछ ही बैठी, "सर, दूसरों के लिए प्रेरणा का यह स्रोत स्वयं इतना तनहा एवं उदास क्यों है?"

"तृप्ति, तू क्या जानना चाहती है, मैं समझता हूं. यही न कि मैंने विवाह क्यों नहीं किया? दरअसल छोटे भाई-बहनों का दायित्व मुझ पर था. आर्थिक विषमताओं के चक्रवात में तिनके की तरह मैं फंसा रह गया. जब मुक्त हुआ, उम्र ढलान पर थी. युवा इच्छाएं चक्रवात के तीव्र वेग से टूट चुकी थीं. दोनों भाइयों ने अपनी-अपनी अलग गृहस्थी जमा ली. बहन का विवाह हो गया और मैं. . ." आगे वे कुछ नहीं कह सके थे.

सोचते हुए तृप्ति बहुत दुखी हो गयी थी. क्यों ऐसा होता है? उसे लगा, उसके दिमाग की नसें तन रही हैं. फिर क्या हुआ, उसे नहीं मालूम. जब वह होश में आयी, वह हॉस्पिटल के बेड पर थी. डॉक्टर डैडी से कुछ बात कर रहे थे.

"राय साहब, अब आपकी बेटी का बचना नामुमकिन लगता है."

"नहीं डाक्टर, उसे बचा लो. उसे बचा लो." आगे के शब्द वह नहीं सुन सकी थी. वह अपनी मृत्यु की समीक्षा कर रही थी. उसे सुकून-सा मिला, किंतु साथ ही ममी-डैडी की चिंता भी.

प्रो. शिशिर आ गये थे. ऋचा ससुराल में थी, अतः आ नहीं सकी. डैडी, भैया नहीं आये. आये होंगे बेटे. डैडी दीदी को टेलीग्राम कर दिया था न. अनकहा-सा अपराध भाव था उनके मुख पर, जैसे कुछ छिपाना चाह रहे थे, ". . बताइए न, नहीं आयेगी दीदी!"

"वो सुरभि का फोन आया है. . . उसकी बेबी छोटी है. . तो आ नहीं सकेगी." रिश्ते इतने कमजोर होते हैं, सोचा न था उसने. तृप्ति विश्लेषण नहीं सुन पा रही थी. ममी, उससे बिछोह दुःख से दुखित हैं अथवा सहारा जाने के दुख से. फिर दोनों भैया-भाभी आये.

"तृप्ति, क्या हो गया है तुझे." उन्हें देखकर वह फूट-फूटकर रो दी थी. विश्राम ने प्यार से कहा, "क्या हुआ तप, रोती क्यों है, तू अच्छी हो जायेगी."

कुछ संयम होने पर उसने कहा, "भैया, मेरे बाद ममी-डैडी का क्या होगा." सपाट एवं मद्धिम स्वर में उन्होंने कहा, "हम तो हैं."

तृप्ति के मन के बीहड़ में से प्रश्न उपजा, 'क्या यह आश्वासन सत्य है?' मन के किसी कोने में से उत्तर भी उभरा, "नहीं तप, यह सत्य नहीं".

वह ममी-डैडी की चिंता लेकर शांति से मर भी तो नहीं सकती. प्रो. शिशिर ही उसे अंधकार में दीपक के समान प्रतीत हुए. उसने कहा, "सर, आज मेरी जो पहचान है, आपके असीम सहयोग के कारण है. मैंने हमेशा आपसे लिया ही लिया है, अंतिम समय में भी आपसे एक उपकार और चाहती हूं. वह आगे बोल नहीं पा रही थी, स्वर टूट रहे थे.

प्रो. शिशिर ने उस अनकही स्थिति को समझ लिया. उन्होंने उसके मस्तक पर हाथ रखकर आंखों की भाषा से मौन आश्वासन दिया और तृप्ति की आत्मा मुक्त होकर कहीं दूर वादियों में खो गयी. □

● अलका अग्रवाल : शासकीय महिला महाविद्यालय, कटनी (म. प्र.) में एम. ए. (हिंदी की छात्रा). गत वर्ष भी 'सारिका' के नवांकुर विशेषांक में इनकी कहानी छपी थी.

प्रोत्साहन पुरस्कार : नौ

वह सब

सीमा शर्मा

वह सब. . .?

दिसंबर का महीना. नैनीताल में कड़ाके की सर्दीवाली रात्रि का दूसरा पहर. चारों ओर कुहरे को छानती हुयी शीत लहर मानो पिछली सुहावनी एवं चहल-पहलवाली ग्रीष्म ऋतु से अपना बदला ले रही हो. दूर अंधेरे के बीच में कुत्ते सियारों की नकल करते हुए अपना युगल-गान गा रहे हैं. बीच में माल रोड पर सियार देखने को मिलते हैं. इन सबसे अपरिचित मनोहर अब रिक्शा स्टैंड के पास लोहे के दो डंडों के बीच पड़ा हुआ है. अपनी उस दूसरी दुनिया की जलती हुयी रंगीनियों में व्यस्त वह इस दुनिया की जानलेवा ठंडक से बेखबर है. घने कुहरे की एक मोटी पर्त उसके ऊपर से निकल गयी. पांव में खुजली-सी महसूस हुई. उसने बड़ी कठिनाई से आंखें खोलीं तो उसके हाथ-पांव मानो जमकर बर्फ बन गये हों. पांव में फिर जलन महसूस हुई. उसने पांव सीधा किया और देखा कुहरे की धुंधली पर्त के नीचे मरियल कुत्ता पांव चाट रहा था. मानो वह उसको ढाढस दिलाकर कह रहा हो—घबराओ मत प्यारे, मैं भी तुम्हारी तरह असहाय हूं. उसे लगा कि नैनीताल नगरी में उसके व कुत्ते के अतिरिक्त और कोई नहीं है. उसने घड़ी देखनी चाही परंतु वह अब हाथ में थी ही कहां? उसे याद आया वह साढ़े दस बजे मल्लीताल से

पति-पत्नी के बीच संवाद की स्थिति खत्म क्यों हो जाती है? क्या वजह है कि जिस पति के लिए पत्नी अपना सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार रहती है, वही उसे छोड़ देने तक का विचार कर लेता है! आखिर वह कौन-सी चीज है जो उसे ऐसा करने पर मजबूर करती है?

घर के लिए चल दिया था. पता नहीं यहां कब से पड़ा है. टन-टन घड़ी ने रात्रि के बारह बजाये. उसे डर लगने लगा और अधिक ठंड महसूस हुई.

उसने घर चलने का निश्चय किया. घर के बारे में सोचते ही उसे कांति याद आयी. उसे कांति का याद आना अच्छा न लगा. जब देखो शराब छोड़ने को कहती रहती है. अरे शराब पीता हूं तो उसका क्या जाता है? बेवकूफ तीन दिन से चीनी लाने को कह रही है. अरे पड़ोस से मांगती है तो मेरा क्या दोष? मैंने तो नहीं कहा था. अभी घर जाऊंगा फिर कहेगी, "चीनी लाओ. . . आप शराब क्यों नहीं छोड़ देते."

आज बताता हूं कि मैं शराब को नहीं तुझे छोड़ सकता हूं. वह घर की तरफ चल दिया. दूर कहीं कई कुत्ते एक साथ भौंकने लगे थे. . .

रात्रि के नौ बजने को थे. कांति का ध्यान 'न्यूज' की ओर गया. "सरकार ने शराब पर प्रतिबंध लगाने का निश्चय किया है." उसने उठकर रेडियो बंद कर दिया. वह खुशी से उछल गयी. उसने सोचा आज तो 'वह सब' अवश्य कहूंगी. मनोहर अब पहले की तरह नहीं आयेगा. वह ठंड भूल गयी. उसे अपनी शादी का पहला वर्ष याद आने लगा. उस दिन मनोहर ऑफिस से साढ़े पांच बजे ही आ गया था—कितना अच्छा लगा वह सब—जब दरवाजा खोलते ही मनोहर ने अपने अंक में भर लिया. . .उसे बहुत कुछ सोचना था, पर कहां? हवा के तेज झोंके से खिड़की खुल गयी. उस समय तल्लीताल की ओर के कुहरे के दृश्य अदृश्य हो गये थे—वह संतुष्ट हुई. उसने खिड़की बंद कर दी. उस दिन बरामदे में सियार को देखकर डर गयी. उसे मनोहर की याद आयी. आज वो अभी तक नहीं आये. और दिन तो वह ग्यारह बजे तक पहुंच जाते थे. अब उसे थोड़ा भय-सा प्रतीत हुआ. . . उसने सोचा आज तो मैं 'वह सब' कह दूंगी. पिछले महीने भैया आये तो मैंने ही तो कहा था कि मैं यहां बहुत सुखी हूं. यह झूठ बोलकर मैंने ही तो अपने दुखों के बाहर खुशियों का बनावटी खोल चढ़ाया था. पति के लिए वह झूठ बोल सकती है. नारी मन जो ठहरा. शादी के बाद उन्होंने कहा भी था. . . "कनू, तुम्हारा दुख मेरा दुख होगा." काश वह मुझसे वह सब सुन लेते. वह धीरे-धीरे रोने लगी.

अचानक दरवाजे पर दस्तक हुयी. वह अपने वास्तविक जीवन में आ गयी. दरवाजा खुलते ही एक जोरदार तमाचा उसके मुंह पर पड़ा.

आंकड़े

मंत्री जी को संसद में वक्तव्य देना था. सेक्रेटरी से पूरे आंकड़े तथा जानकारी तैयार करने को कहा गया. सेक्रेटरी ने कहा, "इन आंकड़ों को इकट्ठा करने में तो कम से कम दो साल लग जाएंगे."

"अभी छोड़ो", कहकर मंत्री महोदय चिंतनमग्न हो गये. सप्ताह भर बाद संसद में जब उनका भाषण हुआ तो सेक्रेटरी को आश्चर्य हुआ कि आखिर मंत्री जी ने इतनी जल्दी आंकड़े कहां से मार लिये. उसने मंत्री जी से फुरसत में पूछा, "सर! ये आंकड़े आपने कहां से प्राप्त कर लिये?"

मंत्री जी ने मृदुभाव से कहा, "ये आंकड़े मेरी कल्पना की उपज हैं. जब सच्चे आंकड़े जमा करने में दो साल लग सकते हैं तो इन्हें गलत सिद्ध करने की सामग्री जुटाने में भी तो उतना ही समय लगेगा!"

—कमल सोगानी

उसे अपने मुंह पर झनझनाहट महसूस हुई. उसके कानों में कुछ शब्द गूंजने लगे—"चुड़ैल कहीं की. चीनी लाया हूं. . ." वह पूरा सुन भी न पायी.

जब उसे होश आया मनोहर चारपाई पर खर्राटे ले रहा था. कल का खाना आज फिर बासी हो चुका था. उसकी सोचने की शक्ति समाप्त हो चुकी थी. दूर से मुर्गे का स्वर स्पष्ट सुनायी दे रहा था.

दरवाजे पर किसी ने दस्तक दी. उसकी आंखें खुलीं. दरवाजे की ओर जाते हुए उसने मनोहर की तरफ देखा. उसने दरवाजा खोला. बाहर दूधवाला खड़ा था. वह अंदर मुड़ी. पड़ोस से बच्चों की हंसने की आवाज आ रही थी. उसने स्टोव जलाकर चाय को रख दिया. वह 'वह सब' कहने की भूमिका बना रही थी. चाय का प्याला लेकर मनोहर के पांवों के पास बैठकर उसे जगाने लगी. दोनों की आंखें चार हुयीं. कुछ ही क्षण में दोनों ने पलकें झुका लीं. हाथ-मुंह धोने के बाद उसने खाने के बारे में पूछा—उत्तर मिला—जल्दी से बना लेती हूं. आटा गूंथते हुए उसके मन में कई विचार आये. उसने तवा रखा फिर सोचने लगी, 'आज गर्मगर्म रोटियां खिलाते समय 'वह सब' कह दूंगी.' यह सोचते हुए कि मनोहर को खाना खिला आऊं, वह सोने के कमरे की तरफ गयी. मनोहर ऑफिस जा चुका था. वह जानती थी शाम जब तक आयेगी खाना बासी हो चुकेगा.

ऑफिस में बैठकर मनोहर रजिस्टर के पन्ने पलट रहा था. पता नहीं क्यों प्रत्येक पृष्ठ पर कांति का मासूम चेहरा दिखायी दे रहा था. उसने रजिस्टर बंद कर दिया.

कल उसने अच्छा नहीं किया. मेरे सिवा उसका दूसरा कौन है? वह ठीक ही तो कहती है मैं शराब छोड़ दूं. आज से मैं शराब छोड़ दूंगा. जाते ही कांति से माफी मांगकर 'वह सब' कह दूंगा.

दरवाजे पर हरीश बाबू को देखकर वह चौंक गया. "आइये हरीश बाबू." उसे ऐसे वक्त पर उसका आना अच्छा नहीं लगा. हरीश बाबू ने बताया कि उनकी शादी की कल दूसरी वर्षगांठ है उस अवसर पर वे मनोहर और कांति को अवश्य देखना चाहते हैं.

आज मनोहर के मन में समझौता करने की प्रबल इच्छा थी. शाम के साढ़े पांच बजे थे. ठंडी हवा होने के बावजूद उसे नाव की सैर अच्छी लगी.

उसे कांति याद आने लगी. वह उसकी प्रतीक्षा कर रही होगी. कितने विचार उसके मस्तिष्क में थे.

शाम के छः बज गये थे. मुवाली रोड पर कुछ लोग लड़खड़ाकर आ रहे थे. वह उस दोराहे पर था जहां से एक राह उसे कांति के प्यार की ओर ले जाती थी और दूसरी जीवन के आनंद की कब्र की ओर. वह कुछ निर्णय लेने में एक बार फिर असमर्थ था. वहां से उसके पग अनायास मुवाली रोड पर मुड़ गये. उसने सोचा आज थोड़ी ही पियूंगा. पर झरने के पास प्यासा आदमी जब पहुंचता है तो वह प्यास बुझाकर ही लौटता है. मस्तिष्क के भारी होने के कारण उसे फिर कांति शब्द से नफरत हो गयी. बदमाश औरत—शराब छोड़ने को कहती है. आज बताता हूं कि शराब छोड़ दूं या उसे—मैं उससे माफी मांगूं? मर्द हूं मर्द.

वह घर की तरफ चल दिया. कुछ दूर चलने पर वह कुत्ते से टकराया. . .कुत्ता चीखता हुआ भाग गया. कई बार उसने कांति को गाली दी. बगल से दो सियार तेजी से निकल गये. जब वह घर पहुंचा ठीक उसी समय दूर से आवाज आ रही थी—जागते रहो. . . उसने दरवाजे पर जोर से दस्तक दी. वह बड़बड़ाते हुए चारपाई की ओर बढ़ना चाहता था पर फर्श पर किसी चीज से टकराकर गिर गया. उसने देखा वह कांति थी. बाहर तेज हवा से मकान की छत की टीन तेजी से हिल गयी थी.

करवट बदलते ही उसे पांवों में दर्द महसूस हुआ. उसकी नींद खुल गयी. वह उठकर बैठ गया. उसने चारपाई से उठकर देखा. कांति अब भी फर्श पर बेसुध पड़ी थी.

वह एकटक कांति को देखता रहा. बेचारी रात भर भूखी इस ठंड में . . . उसे याद आया हरीश बाबू की पार्टी में जाना था—पहली बार उसे अपनी आंखें गीली महसूस हुयीं उसने उठकर कांति से माफी मांगनी चाही—पर . . यह क्या? उसकी देह ठंडी? ऐसा नहीं हो सकता. . . उसने कांति के खुले होठों की तरफ देखा. ऐसा लगा वह कुछ कहना चाह रही है पर. . . उसे कुछ न सूझा. पानी के लिए पास की मेज टटोली. वहां उसे शराब की खाली बोतल दिखायी दी. तभी उसकी दृष्टि बोतल के पास रखे दो पत्रों पर पड़ी. उसने कांति को वहीं छोड़कर पत्र खोले. पहला पत्र कैलाश का था. कैलाश यानी कांति के भाई का.

"प्रिय बहन,

तुमने उस दिन कहा था कि तुम उस घर में बहुत सुखी हो. कितनी प्रशंसा की थी तुमने जीजाजी की. भगवान तुम्हें इतना ही सुखी रखे. पर इस सुख में हमें मत भूलो. अब की बार जरूर पत्र लिखना.

तुम्हारा—कैलाश."

उसने दूसरा पत्र उठाया तो उसका गला सूखने लगा था. पत्र उसकी कांति का था. उसने भीगी आंखों से पत्र खोला.

"बहुत दिनों से सोच रही थी कि 'वह सब' तुमसे कह पाती, पर कैसे? एक तो शर्म के कारण दूसरे तुमने कहने का मौका ही नहीं दिया. हां मेरी मानसिक स्थिति ठीक नहीं है. कुछ भी सोचने में असमर्थ हूं. यदि ऐसी हालत में कुछ कर बैठी तो इसके लिए मुझे माफ कर देना. हो सके तो शराब छोड़ देना—हां, तुम अकेले इतनी लंबी जिंदगी व्यतीत नहीं करना—शादी कर लेना. अब शायद देर हो जाये तो. . . वह सब भी आज तक न कह पायी. . .मैं तुम्हारे बच्चे की मां बनने वाली हूं.

तुम्हारी—कनू"

उसका सिर चकरा रहा था. वह मूर्छित हो गया. मूर्छित होकर—वह कांति के साथ हरीश बाबू की पार्टी में जा रहा था. उसी वक्त एक बिल्ली मेज के ऊपर कूदी. शराब की खाली बोतल नीचे गिरकर टूट गयी. कांच के कुछ टुकड़े कांति के ऊपर गिर पड़े. □

● सीमा शर्मा एन. एम. एस. एन. दास कालिज, बदायूं में बी. ए. उत्तरार्ध की छात्रा हैं.

प्रोत्साहन पुरस्कार : दस

निर्दोष प्रायश्चित

सुरभि रैणा

"मुझे यह सजा क्यों मिल रही है ?" सिसकियों के बीच उभरते एक नारी स्वर का यह सवाल सीधे तौर पर एक सामाजिक सवाल है, जिसका सरोकार समाज और संस्कृति से भी है. पर क्या कारण है कि इस सवाल का जवाब कोई भी नहीं दे पाता ?—पौरुषिक मानसिकता के विरुद्ध आवाज उठाती युवा नारी मन कि कहानी कि आखिर नारी के साथ पुरुष को कैसा व्यवहार करना चाहिए—इंसान की तरह... या किसी जिंस के इस्तेमाल की तरह

टन-टन दीवार घड़ी ने दो बजाये, लेकिन मेरी आंखों में नींद का नामोनिशान न था. आज की रात मैं सो नहीं पाऊंगा, क्योंकि आनेवाले कल के बारे में मैं उत्सुक हूं. वह कल मुझे अपने उदास और खामोश रहने का कारण बतायेगी.

पिछले ढाई वर्षों से जब से वह इस विश्वविद्यालय में लॉ करने आयी है, तब से मैंने जब भी उसे देखा, उदास, खामोश और गंभीर ही पाया है. मेरे सहपाठियों ने उसका नाम 'मिस सीरीयस' रख दिया है और वह विश्वविद्यालय में इसी नाम से जानी जाती है.

शुरू से ही मेरा स्वभाव विनोदी रहा है. मैं कई पत्रिकाओं से चुटकले आदि याद करके सुनाता हूं, मगर इस सफाई से कि कोई यह नहीं जान पाता कि मैंने कौन-सा चुटकला किस पत्रिका से चुराया है. मेरे इस विनोदी स्वभाव के कारण कई लोग मेरी ओर आकर्षित होते हैं, विशेषकर लड़कियां. मेरे चुटकुलों पर सभी ठहाके मार-मारकर हंसते हैं, मगर आज तक यह नहीं समझ पाया कि 'मिस सीरियस' यानी आशा क्यों नहीं हंसती. उसे हंसते हुए देखना तो दूर की बात है, मैंने उसे कभी मुस्कराते हुए भी नहीं देखा. वैसे भी उसका उदास चेहरा देखकर मेरा विनोदी मूड काफूर हो जाता है और मुझे ऐसा अनुभव होता है मानो मैं उसी का उपहास कर रहा हूं.

कभी-कभी मुझे हैरानी होने लगती है कि मैं आशा में इतनी अधिक रुचि क्यों लेने लगा हूं. मेरे दिल में उसके प्रति कौन-सी भावना है. मैं इस भावना को क्या संज्ञा दूं, समझ नहीं पाता हूं, लेकिन इतना अवश्य है कि मैं उस का सम्मान करता हूं.

कोई उससे बात करता है तो वह जवाब 'हां', 'हूं' में ही देती है. उसका चेहरा देखकर मुझे लगता है कि उसे किसी ने बड़ा दुख पहुंचाया है. वह खाली समय में अधिकतर पुस्तकालय में ही होती है. एक दिन मैं पुस्तकालय गया तो देखता हूं कि उसकी उदास आंखें छत पर शून्य में कुछ खोज रही थीं और उसके आगे मेज पर एक पुस्तक खुली पड़ी थी. मैं उसके पास गया और धीरे-से बोला, "हैलो आशा, क्या सोच रही हो?" इस पर उसने चौंककर इधर-उधर देखा और मुझे अपने सामने देखकर बुरी तरह घबरा गयी और उठकर जाने लगी. जब मैंने उसे पुस्तक उठाकर दी तो उसने सिर्फ 'धन्यवाद' कहा. मैंने पूछा, "तुम सबसे इतनी कटी-कटी क्यों रहती हो. किसी से खुलकर बात क्यों नहीं करती?"

"मुझे बात करते हुए घबराहट होती है." यह कहकर वह चल दी. लेकिन मैंने देखा जाते हुए उसकी आंखें नम हो गयी थीं.

पूरे विश्वविद्यालय में मैं ही हूं, जिससे वह थोड़ी-बहुत बात करती है. वह किसी से 'हैलो' तक नहीं करती. पिछले ढाई वर्षों में वह मेरे आगे काफी खुल गयी है. मुझसे बातें भी करने लगी है. मैंने इस बात की परवाह कभी नहीं की विश्वविद्यालय हमारे संबंधों को किस दृष्टि से देखता है.

मैं रोज उसे लेक्चर दिया करता हूं. चाहे वह विश्वविद्यालय कैंपस में हो, लॉन में हो या लाइब्रेरी में. वह मेरा लेक्चर चुपचाप सुनती रहती है. मेरे लेक्चरों का विषय उसकी उदासी ही रहा है. मैंने एक बात नोट की है, जब भी मैं उस पर बात करता हूं तो भावुकतावश उसकी आंखें नम हो जाती है और वह उठकर चली जाती है. मैं उसके करीब आने की कोशिश करता हूं ताकि वह मुझे अपना समझकर अपनी उदासी का

कारण बताये, पर समझ में नहीं आता कि वह मुझसे दूर क्यों भागना चाहती है.

हमारे लॉ डिपार्टमेंट ने पिकनिक पर जाने का प्रोग्राम बनाया. सब तैयार थे, मगर आशा ने जाने से इंकार कर दिया. मेरे बहुत कहने पर उसने कहा, "पिकनिक पर जाना अच्छा नहीं लगता, भीड़ में घबराहट होती है. मैं इसे फिजूलखर्ची समझती हूं." पिकनिक पर जाने में पूरा एक सप्ताह बाकी था. मैंने सोचा इतने समय में उसे अवश्य ही तैयार कर लूंगा. इसलिए मैंने अपने साथ उसके रुपये भी भर दिये थे, लेकिन बार-बार अनुरोध करने पर भी वह तैयार नहीं हुई.

यह कल की बात है. मैं समझ गया था कि वह पिकनिक पर नहीं जायेगी. इसलिए मैंने विषय को बदलते हुए उससे पूछा, "आशा, तुम इतनी उदास क्यों रहती हो?"

"आखिर आप मेरी गंभीरता का मतलब उदासी से क्यों लेते हैं? मैं आपसे पहले भी कई बार कह चुकी हूं कि मेरी गंभीरता को आप उदासी न समझा कीजिए." वह रोषभरे स्वर में बोली, लेकिन उसकी आंखें नम हो गयी थीं.

"यह क्या, तुम्हारी आंखों में आंसू! ...क्या बात है आशा?"

"ओह! नहीं तो... असल में मैं आज अपनी आंखों में दवा डालना भूल गयी थी. मेरी आंखों से पानी बहता है. आप यकीन जानिए, मैं गंभीर ही रहती हूं."

"मैं कई गंभीर लोगों को जानता हूं, लेकिन उनके चेहरे और आंखों में एक चमक होती है, जो मुझे तुममें नजर नहीं आती. तुम्हारा चेहरा देखकर लगता है कि तुम्हारे दिल को किसी ने बहुत ठेस पहुंचायी है. तुम्हारी उदासी का क्या कारण है? आशा, क्या तुम मुझे इस योग्य भी नहीं समझती कि मैं तुम्हारी उदासी का कारण जान सकूं. मुझसे तुम्हारा यह उदास चेहरा देखा नहीं जाता. जब भी तुमसे मैं तुम्हारी उदासी की बात करता हूं तो तुम्हारी आंखें नम हो जाती हैं और तुम यह बहाना बनाकर टाल देती हो कि तुम दवा डालना भूल गयी, आखिर क्यों?"

मेरे इन शब्दों की उस पर जो प्रतिक्रिया हुई, उसकी मुझे अपेक्षा न थी, "मैं हंसूं या रोऊं, खुश रहूं या उदास रहूं, दुखी हूं या सुखी हूं इस सबका आप पर क्यों असर होता है. मैं अपनी उदासी और दुख का कारण भला आपसे क्यों कर कहने लगी. मेरा आपसे रिश्ता ही क्या है? मेरे लिए आपको दुखी होने की कोई जरूरत नहीं है. मैं जिस हाल में हूं, खुश हूं मेहरबानी करके मुझे मेरे ही हाल पर छोड़ दो. आइंदा आपको मुझसे मेरी उदासी का कारण पूछने की कोई जरूरत नहीं है. आप नहीं समझ सकते, आपके इस तरह बार-बार पूछने से मुझे कितनी परेशानी होती है." यह सब कहते हुए उसकी आंखों में आंसू आ गये थे और वह आंचल से अपने आंसुओं को पोंछती हुई चली गयी थी. मेरा आशय उसकी भावनाओं को ठेस पहुंचाने का नहीं था. मैं उसकी उदासी का कारण पूछकर उसके घावों को कुरेदकर उसे दुखी नहीं करना चाहता था, पर साथ ही उसे दुखी नहीं देख सकता था. काफी समय तक मैं उसी स्थान पर खड़ा सोचता रहा और उसकी आंसू भरी आंखें मेरे आगे चलचित्र की तरह घूम गयीं. मैं सोचता था कि अब वह मुझसे कभी बात नहीं करेगी. मुझमें उससे नजर मिलाने तक का साहस नहीं था, परंतु आज जब मैं विश्वविद्यालय पहुंचा तो मैंने पाया कि उसकी आंखें किसी को खोज रही थीं और मुझे यह पाकर हैरानी हुई कि वह मेरी तरफ देखकर मुस्करा रही थी. आज पहली बार उसके अधरों पर मुस्कराहट देखी थी, लेकिन अगले ही पल उसके चेहरे पर पहले की भांति उदासी छा गयी, ठीक उसी प्रकार जैसे चांद पर बादल छा जाता है. उसने पहले मुझसे कल की बात की माफी मांगी और फिर सदा की भांति मेरा लेक्चर खामोशी से सुना, जब वह पुस्तक छोड़कर जाने लगी तो मैं उसे पुस्तक उठाकर दे ही रहा था कि वह बोल उठी, "इसमें आपके लिए संदेश है."

"संदेश?" मैं चौंक गया था.

"जी, इसमें आपके लिए एक पत्र है." यह कहकर वह वहां से चली गयी. और मैं काफी समय तक पत्र को हाथ में लिये उसी स्थान पर खड़ा सोचता रहा कि कैसा पत्र होगा! मुझे उसका सुबह का मुस्कराता हुआ चेहरा याद आया. मैं समझा कि शायद यह कोई 'प्रेम पत्र' होगा, लेकिन मेरा यह अनुमान तक गलत साबित हुआ. मैंने पत्र को खोलकर पढ़ना शुरू किया, जिसमें साधारण-सा संबोधन था—

सुधीरजी,

जिस दिन से आप मुझे जानते हैं, उसी दिन से आप मेरी उदासी का कारण भी जानना चाहते हैं. आप मेरी उदासी का कारण जानने के लिए जितने उत्सुक हैं, उतना मैंने किसी को नहीं देखा. इसीलिए मैंने यह निश्चय किया है कि आपको अवश्य बताऊंगी. आप मुझे पिकनिक-वाले दिन विश्वविद्यालय में मिलिएगा. मैं आपसे जो कुछ कहना चाहती हूं, शायद वह सब कुछ एकांत में ही कहा जा सकता है. विश्वविद्यालय से हम किसी एकांत स्थान की ओर चलेंगे. यदि मैं आपसे अब नहीं कह पायी तो शायद कभी नहीं कह पाऊंगी. आप मुझे रोज लेक्चर दिया करते हैं और मैं चुपचाप सुना करती हूं, लेकिन अब मेरी बारी है. मैं कहूंगी और आप सुनेंगे.

—आशा

मैं यह सब कुछ सोच ही रहा था कि मां ने आवाज देकर मेरी विचार शृंखला को तोड़ दिया. मैं हड़बड़ाकर बिस्तर से उठा तो देखा, दीवारघड़ी सुबह के सात बजा रही थी. इंतजार की घड़ियां समाप्त होती जा रही थीं. मैं शीघ्र ही तैयार हो विश्वविद्यालय पहुंचा तो आठ बज रहे थे और बस पिकनिक के लिए जा चुकी थी. आशा मेरी प्रतीक्षा कर रही थी.

मुझे देखते ही उसके चेहरे पर भय और संकोच के मिले-जुले भाव उभर आये. मैंने उसे चलने के लिए कहा. वह तैयार थी. हम एकांत स्थान की ओर चल दिये. रास्ते में मैंने कुछ पूछना उचित नहीं समझा. और न ही हममें कोई खास बात ही हुई. वहां पहुंचकर हम बैठ गये. वह अपने साथ लंच लायी थी. जब हम उसे खा चुके तो कुछ समय तक आशा चुपचाप मुझे एकटक देखती रही. फिर उसने अपने बैग में से एक एलबम निकाला, उसमें कुछ फोटोग्राफ थे. वे फोटोग्राफ किसी छोटी-सी, भोली भाली, सुंदर और मासूम बच्ची के थे.

"कितनी प्यारी बच्ची है. आशा, ये किसके फोटोग्राफ हैं?"

"आपने पहचाना नहीं?"

"मैंने इसे देखा ही कहां है?" मैंने हैरान होकर पूछा.

"देखा नहीं? वह लड़की तुम्हारे सामने ही तो है."

"यानी तुम? ये तुम्हारे फोटोग्राफ हैं!" आश्चर्य से मेरा मुंह खुला का खुला रह गया. उस बच्ची और आज की आशा में जमीन-आसमान का अंतर था.

"तुम अपनी उदासी का कारण बताओ आशा, ये तो तुम्हारे बचपन के फोटोग्राफ हैं. तुम्हारी उदासी का तुम्हारे बचपन से क्या संबंध है?"

"बहुत गहरा संबंध है सुधीर!" आज पहली बार मैंने उसके होंठों से अपना नाम सुना था.

उसने कहना शुरू किया, "मेरी बरबादी की कहानी मेरे बचपन से ही शुरू होती है. लोग अपने बचपन को जिंदगी का सबसे सुहाना समय कहते हैं, पर मेरी जिंदगी का वही समय सबसे अंधकारमय है. वहीं से मेरी दुखभरी कहानी शुरू होती है. बचपन में मैं बड़ी भोली भाली, प्यारी और सुंदर बच्ची हुआ करती थी. उन दिनों हम बंगाल में रहते थे. मेरी आयु मुश्किल से सात वर्ष की होगी. हमारे घर में पापा का एक दोस्त आता था. वह व्यक्ति मुझ पर बुरी नजर रखता था. मगर सात वर्ष की बच्ची यह सब नहीं जान सकती. काश! व्यक्ति की बुरी भावनाओं को उसका चेहरा देखकर पता चल सकता!..." वह अपनी बात अधूरी छोड़ कर फूट-फूटकर रोने लगी.

"यह तुम क्या कह रही हो आशा?" मेरा स्वर बहुत ऊंचा हो गया.

फिर मैंने थोड़े शांत स्वर में पूछा, "उसके बाद क्या हुआ?"

"मैं कहां पहुंची थी?"

"तुम कह रही थी कि वह व्यक्ति तुम पर बुरी नजर रखता था."

"हां तो मैं कह रही थी कि वह आदमी मुझ पर बुरी नजर रखता था. हम लोग... मेरा मतलब मेरी मां, बाबूजी और मेरे छोटे भाई-बहन भी उसके घर आया करते थे. काफी आना-जाना था. फिर एक दिन ...एक दिन..." इस बार फिर वह अपना वाक्य अधूरा छोड़कर चुप गयी. उसके दिल का दर्द एक बार फिर उसकी आंखों से आंसू बनकर बहने लगा.

"उस दिन... क्या हुआ आशा?" मेरा स्वर कांप रहा था.

उसने भर्राये स्वर में कहा, "एक दिन स्कूल जाते समय वह मुझे रास्ते में मिला और बोला, 'तुम्हारे मां-बाबूजी और भाई-बहन मेरे घर पर हैं. तुम्हारे पापा जो कि दौरे पर थे, लौटते समय रास्ते में एक्सीडेंट हो गया. इस समय वे मेरे घर पर हैं.' मैंने उसकी बात पर विश्वास कर लिया और उसके साथ चल पड़ी. उसके घर जाकर देखा तो वहां कोई नहीं था. और फिर... फिर वह दिन मेरे जीवन में ऐसा अंधकार लेकर आया कि इस बात की उम्मीद नहीं रही कि कभी सवेरा भी होगा." वह अपना मुंह अपने हाथों में छुपाकर रोने लगी.

"क्या मतलब?" सब कुछ समझते हुए भी मैंने जानबूझकर अनजान बनते हुए पूछा.

वह रुंधे गले से बोली, "मतलब यह सुधीर, उसने मुझे अपनी वासना का शिकार बना लिया. उसे मेरी मासूमियत पर भी तरस नहीं आया. उस समय इतनी छोटी उम्र में मुझे इस बारे में कुछ भी पता नहीं था. वैसे भी अपने पिता की उम्र के व्यक्ति से मुझे इस घिनौने व्यवहार की उम्मीद भी नहीं थी. उस समय मैं इतना जरूर समझ गयी थी कि जो कुछ हुआ है गलत हुआ है और वह सब कुछ हुआ है, जो होना नहीं चाहिए था. घर आकर मैंने मां को सब कुछ सच-सच बता दिया और फिर घर का शांत वातावरण मातम में बदल गया. मैं कुछ नहीं समझ पायी कि क्या हो रहा है! मुझे 'मनहूस', 'बदनसीब', 'कलंकिनी' और न जाने क्या-क्या कहा गया. जब मां और बाबूजी का जी मुझे भला-बुरा कहकर भर गया तो मुझे अपने गले से लगाकर दोनों ही बिलख-बिलखकर रोने लगे. मैं हैरान होकर टुकुर-टुकुर कभी मां की ओर देखती थी तो कभी बाबूजी की ओर. उस दिन तो मैं उन आंसुओं का मतलब नहीं समझ पायी थी, पर आज समझती हूं."

"फिर क्या हुआ?"

"फिर जब मैं कुछ बड़ी हुई और मुझे यह मालूम हुआ कि मैंने क्या खोया है तो मेरा मन प्रतिशोध की ज्वाला से भड़क उठा था. मेरा दिल किया था कि सारी दुनिया को आग लगा दूं. जलने के लिए तो एक ही चिनारी काफी होती है, फिर मेरे दिल में तो वह आग लगी है, जिसे समुद्र भी नहीं बुझा सकता है. यह आग कभी शांत नहीं हो सकती. यह आग आज भी मेरे अंदर लगी है, लेकिन मैं खुद ही इस आग में जल रही हूं. कोई भी न तो इस आग की लपटें देख सकता है न ही धुआं. उस दिन से मेरे लिए सुख-दुख में कोई अंतर नहीं रह गया. दोनों मुझे एक-से लगते. उस दिन मुझे सारी पुरुष जाति से नफरत हो गयी थी और मेरे जीवन में आवेश का वह क्षण भी आया था, जब यह जीवन मुझे बोझ, व्यर्थ और अर्थहीन लगने लगा था... और मैंने अपनी जीवनलीला समाप्त करने का निर्णय ले लिया था... पर उसी क्षण मेरे दिमाग में यह विचार कौंधा कि जब वह व्यक्ति जीवित रह सकता है तो मैं क्यों नहीं? और फिर मेरे जीवन में एक नया मोड़ आया. मैंने आत्मनिर्भर होने और दिल लगाकर पढ़ाई करने का निर्णय कर लिया और साथ ही मैंने यह फैसला भी किया कि मैं शादी नहीं करूंगी."

"शादी नहीं करोगी! ...मगर क्यों?

"तुम पुरुष होकर भी नहीं जानते कि हमारा यह समाज पुरुष प्रधान-समाज है और कोई भी पुरुष ऐसी लड़की से शादी करना नहीं चाहता जबकि कुंआरी लड़कियों की कोई कमी नहीं है. मैं एक ऐसी कली हूं, जिसे खिलने से पहले ही बेदर्दी से मसल दिया गया है. कोई भी मुरझाये फूलों को अपने गले का हार नहीं बनाता, जिनमें न तो रंग होता है और न ही सुगंध. वैसे भी मैं अपना अतीत छिपाकर किसी को धोखा नहीं दूंगी और न ही मैं किसी की जिंदगी में यह जहर घोलना चाहती हूं कि वह मेरी तरह न जी सके, न मर सके."

"लेकिन उस इंसान को तुमने सजा क्यों नहीं दिलवायी. यह समाज, यह कानून तुम्हारी सहायता करते. क्या तुमने उसको माफ कर दिया?"

"तुम उस दरिंदे को इंसान कहते हो, जिसने ऐसी पाशविकता की? मुझे अपनी वासना का शिकार बनाकर कहीं का न छोड़ा. मैं उस दरिंदे को कभी माफ नहीं कर सकती, कभी नहीं. उसने मेरी हर खुशी, हर इच्छा और हंसी का खून किया है. उसने मेरी पलकों पर सपनों के सजने से पहले ही उन्हें इस तरह चूर कर दिया है कि मैं उन सपनों की किर्चें भी नहीं समेट पायी. उसने मुझे ऐसा घाव दिया है, जिसने न सिर्फ मेरे शरीर और मन को ही छलनी किया, बल्कि मेरी आत्मा तक को छलनी किया है. कहते हैं, समय हर घाव का मरहम होता है, पर इतना समय बीत जाने पर भी मेरा घाव हरा का हरा है. यह घाव अब रिस-रिसकर नासूर बन गया है. जिसे चोट लगी हो, वही जानता है कि घाव

कितना गहरा है और कितनी पीड़ा पहुंचाता है. उसने न तो मुझे जीने दिया है, और न ही मरने. मैं तो एक चलती-फिरती लाश बनकर रह गयी हूं. इतने वर्षों से अपनी लाश अपने कंधों पर ढो रही हूं. सांसों के चलने का नाम ही तो जीना नहीं है. कभी-कभी तो सोचती हूं अगर यही जिंदगी है तो क्या मौत इससे अधिक भयानक होगी. क्या सिर्फ इसलिए जिंदा रहा जाये कि हम पैदा हुए हैं?"

"बस करो आशा, मैं नहीं सुन सकता." मैं लगभग चीख उठा. था.

"तुम इस समाज की बात करते हो न! मैं पूछती हूं कि क्या न्याय दिया मुझे इस समाज ने! यह समाज उस दरिंदे को किस नजर से देखता है और मुझे किस नजर से. समाज की दृष्टि में तो मुझ जैसी वासना की शिकार लड़कियों के लिए दो ही रास्ते हैं—वेश्यालय या आत्महत्या, जो मुझे मंजूर नहीं. मैंने जो अपराध नहीं किया, मुझे उसकी सजा मिल रही है...."

"बस करो आशा, मैं और अधिक नहीं सुन सकता."

"तुम्हें सुनना ही होगा. तुम जिस कानून की दुहाई देते हो न, इसमें भी मुझे ही यह सिद्ध करना पड़ता कि मेरे संग पाशविकता की गयी है. और अदालत के कटघरे में ऐसे अश्लील प्रश्न किये जाते हैं, जिसे सुनकर कोई भी शरीफ लड़की शर्म से गरदन झुका ले. और न्याय देने के स्थान पर अदालत सुरक्षा देने का ढोंग करके वासना का शिकार बनी लड़कियों को जेल में बंद करने की आज्ञा देती है. तुम नहीं समझ सकते, क्या बीतती है जब समाज और कानून इस तरह का न्याय करें."

"और तुम्हारे मां-बाप?" मैंने पूछा.

"वे भी अपनी जगह मजबूर हैं. इस तरह के समाज में रहते हुए भी उन्होंने मुझे आश्रय दे रखा है, मुझे त्यागा नहीं है, यही क्या कम है?"

अब तक मैंने मन ही मन उससे शादी करने का फैसला कर लिया था, ताकि पुरुष जाति के प्रति उसके दिल की नफरत दूर हो सके.

"सचमुच तुम्हारे साथ किसी ने न्याय नहीं किया. मैं तुम्हारे साथ न्याय करूंगा... मैं तुमसे शादी करूंगा."

"शादी? तुम मुझसे शादी करोगे? यह कैसा मजाक है?" यह कहकर वह खिलखिलाकर हंसने लगी. आज पहली बार उसे हंसते हुए देखा था, लेकिन कितनी खोखली हंसी थी. उफ! कितना दर्द था उसकी हंसी में.

उसकी हंसी में उसका दर्द साफ झलक रहा था. सहसा हंसते-हंसते उसकी आंखें भर आयीं और वह बुरी तरह रोने लगी और सिसकियों के बीच उसने कहना शुरू किया, "नहीं, नहीं, मुझ पर दया करने की जरूरत नहीं है. घर में भी मुझ पर सभी दया करते हैं और आज तुम भी... नहीं... नहीं तुमसे मुझे ऐसी उम्मीद नहीं थी."

उसकी आंखों से आंसू बहने लगे. यह एक ऐसा तूफान था. जिसे रोकना बहुत ही जरूरी था. मैंने आगे बढ़कर उसके आंसुओं को पोंछा और कहा, "मैं तुम पर दया नहीं कर रहा हूं. मैं तुमसे प्यार करता हूं."

ओह! जल्दी में मेरे मुंह से यह क्या निकल गया! इससे पहले कि मैं अपने-आपको संभाल पाता, वह मुझसे लिपट गयी और मेरे कंधों पर सिर रखकर रोने लगी और भरे गले से बोली, "आज तक मैं अपना दुख अपने-आपको सुनाते-सुनाते थक गयी थी. आज पहली बार किसी ने मेरे आंसुओं को पोंछा है. आज पहली बार मुझे ऐसा कंधा मिला है, जिस पर सिर रखकर रो सकूं."

अब तक मैं भी पूरी तरह टूट चुका था. आंसू रोकना मेरे लिए मुश्किल ही नहीं, असंभव हो गया था. मुझ जैसे विनोदी स्वभाव का युवक भी कभी इस तरह टूट सकता है, मैं खुद हैरान था. मेरी आंखों में आंसू देखकर वह तड़पकर बोली, "पुरुष होकर भी तुम रो रहे हो, कैसे पुरुष हो? मेरी तरफ देखो, मैंने सब कुछ चुपचाप सहा है और उफ तक नहीं की."

"नहीं, नहीं, तुम सब कुछ चुपचाप सह सकती हो, मैं नहीं मैं..."

"क्या करोगे तुम?"

"तुम मुझे उसका नाम बताओ आशा, मैं उसे जान से मार डालूंगा. उसे इस कुकृत्य की सजा अवश्य मिलनी चाहिए." मेरा खून खौलने लगा था.

मुझे कल्पना भी नहीं थी कि वासना इंसान को इस हद तक गिरा सकती है. मैंने स्वयं में भी नहीं सोचा था कि इंसान का रूप इतना भयानक हो सकता है.

"ओह, तो तुम यह साबित करना चाहते हो कि तुम्हारी भुजाओं में शक्ति है और तुम्हारा खून सफेद नहीं हुआ है. तुम समझते हो कि उसे जान से मार देने से सारी समस्या हल हो जायेगी. और मेरी खोयी हुई इज्जत मुझे वापस मिल जायेगी. नहीं सुधीर, नहीं, उसकी सजा मौत भी नहीं है... उसे तो वह सजा मिलनी चाहिए कि वह भी मेरी ही तरह तड़पे. वह मौत मांगे, उसे मौत न मिले. तुम समझते हो कि यह सिर्फ मेरी ही कहानी है. न जाने और भी कितनी लड़कियां हैं, जो मेरी तरह वासना का शिकार होकर अन्याय के अंधेरे में कहीं खो जाती हैं. मुझे नहीं मालूम उसे क्या सजा मिलनी चाहिए और उसने ऐसा क्यों किया. उसके इस अमानवीय व्यवहार के लिए उसके अंदर के पशु ने प्रेरित किया होगा."

"मैं समझ गया, तुम मुझसे शादी क्यों नहीं करना चाहती हो, तुम्हें पुरुष जाति से नफरत हो गयी है. मैं यह मानता हूं कि तुम्हारे साथ अन्याय करनेवाला भी पुरुष ही है, लेकिन इसकी सजा सारी पुरुष जाति को क्यों दे रही हो? सब पुरुष उसकी ही तरह होंगे, तुम ऐसा क्यों सोचती हो! तुम्हें प्रतिशोध लेना है तो उससे लो, सारी पुरुष जाति से क्यों लेना चाहती हो? तुम्हारे सोचने का दृष्टिकोण कितना संकीर्ण है."

"यह बात नहीं है सुधीर, अगर ऐसा होता तो मैं अपनी जिंदगी में हुआ वह हादसा तुम्हें न बताती, जिसने मेरे जीवन में हलचल मचा दी. मुझे घृणा तो पुरुष के उस रूप से है, जो मैंने उस दिन देखा था. मैं उनसे घृणा करती हूं, जो स्त्री को मात्र देह समझते हैं."

मैंने उसके कंधों को झकझोरते हुए पूछा, "तुम इस बात से इंकार नहीं कर सकती कि तुम्हें मुझसे प्यार है. अगर ऐसा न होता तो तुम मुझसे यह सब कुछ न कह पाती और वह भी इस तरह एकांत में. आशा बोलो, तुम्हें मुझसे प्यार नहीं?"

वह कुछ नहीं बोली.

अपना चेहरा मेरे हाथों में छिपाकर रो दी.

उसका चुप रहना ही उसकी मौन स्वीकृति थी. मैं समझ गया था.

"तुम्हें सहारे की सख्त जरूरत है आशा, मुझसे शादी कर लो. मैं तुम्हारा दामन खुशियों से भर दूंगा. तुम अपना दुख भूल जाओगी."

"नहीं सुधीर, मैं अपनी जिंदगी अपने सहारे जीना चाहती हूं. किसी का सहारा लेकर नहीं. तुमने जो कुछ कहा है, भावना में बहकर कहा है. सच तो यह है तुम्हें मुझसे प्यार नहीं, सहानुभूति है और प्यार और सहानुभूति दो अलग भावनाएं हैं. मुझे किसी की दया, सहानुभूति और प्यार की जरूरत नहीं है. मुझे सहयोग चाहिए. मैं अन्याय के विरुद्ध लड़ना चाहती हूं. मैं दूसरों के लिए जीऊंगी. मैं अपनी ममता उन अनाथ बच्चों में बांटूंगी. जिन्हें न तो मां का प्यार मिला है, न बाप का. जिन्हें समाज किसी के पाप की निशानी समझकर ठुकरा देता है, मैं उन्हें गले से लगाऊंगी. मैं उन लोगों को न्याय दिलवाऊंगी, जिन्हें न्याय नहीं मिला है."

"तुम अपने साथ न्याय नहीं कर पायी तो किसी को क्या न्याय दोगी?"

"तुमने मेरी दुखती रग पर हाथ रखा है. यही तो मेरे दुख का कारण है. मुझे न तो उस समाज ने ही न्याय दिया है और न ही कानून ने. मैं समाज के इस ढांचे और कानून की इस व्यवस्था के विरुद्ध लड़ूंगी और मुझे पूरा विश्वास है कि मुझे एक न एक दिन अवश्य न्याय मिलेगा. ...अगर ऐसा न हुआ तो मैं स्वयं उससे बदला लूंगी. उसे इस पाप की सजा अवश्य मिलनी चाहिए. उसने मुझे ही नहीं. मेरे नारित्व को भी अपमानित किया है. इतना सब कुछ होते हुए भी मैं जिंदा हूं और जिंदा रहूंगी, अन्याय के विरुद्ध लड़ूंगी. मैं इंसान हूं और चाहती हूं कि मेरे साथ इंसानों जैसा ही व्यवहार किया जाये, जानवरों जैसा नहीं."

उसमें जोश था, जीने की इच्छा थी. वह अन्याय के विरुद्ध लड़ना चाहती थी, फिर भी उसे न्याय क्यों नहीं मिल पा रहा था. मुझे नहीं मालूम. इसका जिम्मेदार यह समाज है, कानून की यह व्यवस्था है या फिर उसके अपने मां-बाप या उसके सोचने का दृष्टिकोण? मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि वह निर्दोष होकर भी किस पाप का प्रायश्चित कर रही है.

वातावरण बोझिल था.

"मुझे यह सजा क्यों मिल रही है?" उसने मुझसे ऐसे प्रश्न किया मानो मैं कोई जज हूं.

यह प्रश्न मेरे लिए एक ऐसी अनबूझ पहेली है, जिसे बूझ पाना मेरी सामर्थ्य के बाहर है.

मैं कोई निर्णय नहीं दे पा रहा था. जबकि...

हवा में उसकी सिसकियां गूंज रही थी और मेरी आंखों में नमी तैर रही थी.

□

● सुरभि रेखा, राजकीय कन्या महाविद्यालय, शिमला में बी. ए. (द्वितीय वर्ष आनर्सः इतिहास) की छात्रा है.

सिर्फ एक मौत

जितेंद्र भाटिया

सारिका के इस रजत जयंती वर्ष के जनवरी प्रथम अंक से प्रारंभ इस स्तंभ में हम गत चौबीस वर्षों में सारिका में प्रकाशित प्रत्येक वर्ष की श्रेष्ठ कहानी का पुनःप्रकाशन कर रहे हैं. इसके साथ ही हम कहानी पर एक वरिष्ठ रचनाकार की टिप्पणी भी आमंत्रित करते हैं. इस क्रम में प्रस्तुत है सारिका के पहले 'नव लेखन विशेषांक', अप्रैल १९६८ अंक में प्रकाशित जितेंद्र भाटिया की यह कहानी जो उनकी कहीं भी छपने वाली पहली कहानी थी. साथ में है इस कहानी पर हिंदी के कथाकार-उपन्यासकार आशीष सिन्हा की टिप्पणी.

अब किसी संदेह की कोई गुंजाइश नहीं रह गयी है. लाश के पास जो चाबी मिली है, उससे उसका कमरा खुल जाता है. और सुनते हैं, फोटो भी पहचान ली गयी है.

बड़ा अजीब-सा लगता है सोचते हुए कि वह, जो मेरे नजदीक ही, वहां उस कमरे में रहता था, अब केवल एक लाश है. लाश भी कहां, अब तक तो कारपोरेशनवालों ने उसे गाड़ भी दिया होगा.

उसके पिताजी आये थे. आज सुबह ही चले गये हैं. अब यहां करने को रह भी क्या गया था. सुनते हैं, उसके पिताजी बड़े साधारण-से आदमी हैं. शायद तभी तो जो कुछ सुना, देखा, उसे एक अनिवार्य दुर्घटना समझकर चुपचाप, बिना कुछ कहे स्वीकार कर लिया. उसके पिताजी अगर कुछ होते तो शायद अधिक शोर मच पाता. कम से कम टाइम्स में इस दुर्घटना के बारे में आधा कालम तो जरूर छपता.

आज सुबह की गाड़ी से ही वह लौट गये हैं. मैंने कल शाम को देखा था उन्हें, आफिस में चुपचाप बैठे हुए. वही आगे को उभरा हुआ छोटा-सा मुंह और वैसी ही भीतर को धंसी हुई गहरी आंखें. मुझे देखते ही अनुमान लग गया था कि ये सिर्फ उसके पिताजी ही हो सकते हैं.

बेचारे एक बार लाश को देख भी नहीं पाये. हम लोगों को जिंदगी भर अफसोस रहेगा. अभी उनके जाने के कुछ देर बाद ही पता लगा है

कि शनिवार को मैरीन ड्राइव के किनारे पर एक लाश मिली थी जिसे फोटो खींच लेने के पश्चात पुलिस ने म्यूनिसिपैलिटी के हवाले कर दिया. "बुशशर्ट की जेब में से मिली चाबी से उनका कमरा खुल जाता है." सत्ती कह रहा था.

हाल मैनेजर रंगप्पा चिल्ला रहा है, "लाश को मुस्लिम पद्धति से गाड़ा गया है, हमें चाहिए कि लाश को दुबारा खुदवाकर पूरा दाह-संस्कार हिंदू पद्धति से करवायें."

सुनते हैं, उसके पिताजी बंबई में किसी को नहीं जानते थे. पुलिसवालों ने भी परवाह नहीं की. वरना शायद कुछ हो पाता. रंगप्पा को विश्वास है कि यदि उसके पिताजी पुलिसवालों पर कुछ प्रभाव डाल पाते तो कारपोरेशनवालों के बाप तक को लाश वापस खोदकर निकालनी पड़ती. फिर जरूर उस सड़ी-गली लाश को लकड़ियों के नीचे दबाकर हिंदू पद्धति से जलाया जा सकता और मरनेवाले की भटकती हुई आत्मा को शांति मिल पाती.

मुझे संतोष है कि मैं उसे करीब से नहीं जानता था. वरना मेरा भी दिल टूट जाता क्योंकि किसी करीब के व्यक्ति के बिछुड़ जाने पर अक्सर दिल टूट जाया करते हैं. और मेरा हृदय तो वैसे भी बहुत क्षीण है.

मैंने उससे कभी बात की हो, मुझे याद नहीं पड़ता. यूं मैं अक्सर उसे मेस में खाना खाते हुए देखता था. एकदम दुबला-पतला शरीर. वह लंबी कमीज और पाजामा पहनकर आया करता था. मुझे याद है, जब पहली बार वह मेस में आया था तो सत्ती ने मुझे कोहनी मारकर कहा था, "अबे, उधर देख चमगादड़ को."

और मैं देखकर हंस दिया था. तब शायद वह डरता था. हमसे उसका डरना स्वाभाविक भी था क्योंकि वह फ्रेशर था. मगर उस दिन के बाद भी, पूरे तीन वर्षों में मैंने कभी उसके चेहरे को उस अस्पष्ट-से भय से मुक्त नहीं पाया. यूं कभी-कभी वह हंसता भी था, पर हंसकर एकाएक चुप हो जाता था, मानो अपनी हंसी से स्वयं घबड़ा गया हो.

किंतु अब वह मर चुका है और यह अनिवार्य हो गया है कि उसके बारे में ऐसी बातें न सोची जायें. अब वह समाप्त हो चुका है और उसका असली व्यक्तित्व शहर के पास ही कहीं उसकी लाश के साथ मुस्लिम पद्धति से गाड़ दिया गया है, सदा-सदा के लिए. अब सिर्फ उसकी उपलब्धियों के गुणगान गाये जा सकते हैं क्योंकि हम इंसान हैं, और इंसानों में मरने के बाद हर व्यक्ति को महान घोषित कर देने का रिवाज हुआ करता है.

इसलिए मैं यह नहीं कहूंगा कि फर्स्ट इयर में उसकी रैगिंग करते समय जब हमने उसका कान पकड़कर उसकी ठुड्डी को झटका दिया था तो वह सहमकर पीछे हट गया था, ठीक उसी तरह जैसे घोंघा तिनके से चोट खाने के बाद अपना सिर शंख के अंदर घुसा लेता है. मैं यह भी स्वीकार नहीं करूंगा कि मुझे उस वक्त सचमुच यह लगा था कि उसकी शक्ल चमगादड़ से मिलती है. और मुझे यह भी बताना चाहिए कि उसका रूममेट उसे इतनी गालियां दिया करता था कि अक्सर वह फूट-फूटकर रोने लगता.

कोई और मुझसे उसके बारे में पूछे तो मैं यह सब बिल्कुल नहीं बताऊंगा क्योंकि मैं एक सभ्य इंसान हूं. मैं कहूंगा कि वह एक हंसमुख तथा मिलनसार व्यक्ति था और इस सत्य को छुपा जाऊंगा कि पिछले तीन वर्षों में होस्टल के दो सौ पचास लड़कों में से उसे एक भी ऐसा मित्र नहीं मिला जिससे वह दो घड़ी हंसकर बात कर सके.

अब वह मर चुका है और सबको याद आ रहा है कि वह पढ़ाई में तेज था. फर्स्ट इयर में फर्स्ट डिवीजन आया था. कोई यह नहीं बता रहा कि पिछली परीक्षा में उसने सारे पेपर छोड़ दिये थे क्योंकि यह कहना अशिष्ट होगा कि कुछ दिनों पहले वह नर्वस टेंशन का शिकार हो गया था.

इसीलिए मुझे संतोष है कि मैं उसे करीब से नहीं जानता था. वरना आज मुझे भी उसके साथ रहनेवाले लोगों की तरह गहरा धक्का लगता.

जीवन के प्रति लेखक की आस्था कायम है!

—आशीष सिन्हा

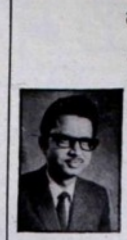

जितेंद्र भाटिया ने जिस समय 'सिर्फ एक मौत' की रचना की थी, उस समय हिंदी कथायात्रा में रूपवादी लेखन का आधिक्य था. शिल्प और आयातित 'टेकनिक' के नाम पर रचनाएं दिमागी ऐय्याशी का जरिया बन रही थीं. उस रचना-परिवेश में, एकाएक 'सिर्फ एक मौत' का लिखा जाना और 'सारिका' में उसका प्रकाशित होना एक खास अहमियत रखता है. हालांकि, तब, जब यह रचना छपी थी, आरोप था, कि यह कहानी कम है और एक प्रतिक्रिया या शिकायत या वक्तव्य अधिक है!

'सिर्फ एक मौत' का नायक, मरकर अमर नहीं होता है. जाहिर है, इस जमाने देश में, रोजाना ऐसी न जाने कितनी मौतें हुआ करती हैं. . .एक छुरा, जो दिखता नहीं है, वह सामान्यजन के सिर के ऊपर लटकता रहता है. उस अदृश्य छुरे की डोर को, ऐसी शक्तियां नियंत्रित करती हैं, जिनके हिस्से में समस्त राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकार हैं. कब किस वक्त पर यह अदृश्य तलवार, संघर्षरत वंचित, शोषित सामान्य जन की गर्दन ले ले, वह यह नहीं जानता. इस रचना के कथानायक की ही तरह.

इस रचना का कथानायक अनाम है. दारिद्र्य, पीड़ा, शोषण झेलता हुआ मनुष्य लगभग अनाम ही होता है. कथानायक पढ़ने आता है, शायद इंजीनियर बनना

वैसे उसे जाननेवाले लोग पिछले कुछ दिनों से उसके लिए चिंतित थे. और उन्हें ऐसी ही किसी बात की आशंका थी. अब उनकी चिंता गहरे शोक में बदल गयी है.

कभी-कभी देवी-शक्ति से होनेवाली घटनाओं के बारे में पहले ही अनुमान लग जाता है. मुझे याद है कि शुक्रवार को जब वह कमरे से गायब हो गया था और रात को लौटकर नहीं आया था तो बहुत से लोगों ने अपनी आशंकाएं प्रकट की थीं. कुछ ने शिकायत की थी कि उनकी आंख सुबह से फड़क रही थी. और फिर बलदेव ने साफ-साफ कह दिया था कि वह शर्त लगा सकता है कि उसने गेटवे ऑफ इंडिया से समुद्र में कूदकर आत्महत्या कर ली होगी.

खाने की मेज पर बलदेव चिल्ला रहा है, "मैंने तो पहले ही कहा था. वही हुआ न? मैरीन ड्राइव पर लाश मिली न."

शंकर विरोध करता है. गेटवे ऑफ इंडिया और मैरीन ड्राइव के

चाहता है, पर बन नहीं सकता. वह पिछड़ जाता है और अंततः निश्चित हो जाता है. स्वातंत्र्योत्तर भारत में कोई मामूली-सा आदमी बहुत ऊपर तक तो उठ ही नहीं सकता.

उसे उठने नहीं दिया जाता. मुट्ठी भर लोग, जो ऊपर हैं, वे वहां किसी और को बर्दाश्त कर ही नहीं सकते. आज हर जगह अघोषित 'रोड ब्लॉक' है.

'सिर्फ एक मौत' का नायक इंजीनियर नहीं बन सकता.

उसकी नियति, अपने पिता की तरह, 'गहरी-धंसी हुई आंखोंवाला' और 'आगे की ओर उभरा हुआ, छोटा-सा मुंहवाला' व्यक्तित्व बनना है.

कथानायक ने वर्ग विभाजन की सीमाएं तोड़ने की कोशिश की थी. उसकी कीमत उसे मरकर चुकानी पड़ी. उस निर्मम मृत्यु को उसके पिता ने चुपचाप स्वीकार कर लिया—ठीक उसी तरह, जिस तरह असंख्य साधनहीन, वंचित, प्रताड़ित पिता, अपनी संतानों की मृत्यु को चुपचाप स्वीकार कर लेते हैं.

इन मौतों की खबरें अखबारों तक में नहीं छपतीं.

जितेंद्र लिखते हैं– "पूरे तीन वर्षों में मैंने कभी उसके उस चेहरे को अस्पष्ट भय से मुक्त नहीं पाया!" कैसे भय से वह ग्रस्त था?

यह भय लटकती उस अदृश्य तलवार का है, जिसके अस्तित्व से वह व्यक्ति वाकिफ था.

कथानायक और उसका वर्ग जन्म से प्रतिफल ऐसे खोफ में ही जीता है, उन्हें जीना पड़ता है, क्योंकि यह व्यवस्था उन्हें इसी तरह जीना और जीते जाना सिखाती है. इसी बिंदु पर आकर रचना का यथार्थ, वर्ग संघर्ष और वैज्ञानिक मार्क्सवाद से जुड़ जाता है.

बहरहाल, जीवन में लेखक की आस्था कायम है. लेखक रचना के अंत में, शोकसभा के फूहड़पन को बड़ी साफगोई से उजागर करता है, और उस मौत के लिए जिम्मेदार वर्ग को भी पूरी तरह रेखांकित करता है.

सत्ती या उसका वर्ग ही उस मौत का कारण है. अथवा उसके रूममेट का वर्ग. वही रूममेट जो उसे इतनी गालियां देता था, कि वह फूट-फूटकर रोने लगता था.

. . .जितेंद्र ने इस रचना में और बाद में अपनी संपूर्ण कथायात्रा में, कभी भी कथ्यहीनता का सामना नहीं किया. न ही कभी कथ्यहीनता को एक चमत्कार, धोखा देनेवाली भाषा में लपेटकर, पाठक के सामने रखा है.

जितेंद्र की कहानियों के पात्रों की दुनिया, उनके पाठकों की दुनिया से जरा भी भिन्न नहीं है.

रचना की भाषा लगभग सपाट है. रचना में एक वाक्य–'अब वह मर चुका है.'–बार-बार दुहराया जाता है. बार-बार एक ही वाक्य का दुहराया जाना, शिल्पगत कमी हो सकती है, परंतु जिस अनुभव-जगत से कथ्य उभरता है, भाषा की बुनावट वैसी ही होगी. एक ईमानदार लेखन, कभी भी भाषा के संकट का सामना नहीं करता.

हवाई जहाज पर बैठकर, उड़ता हुआ आदमी जिस तरह बाढ़-पीड़ितों का मुआइना करता है, जितेंद्र, उस तरह, एक ऊंचाई पर बैठकर, कभी भी अपने पात्रों को नहीं देखते.

जितेंद्र नीचे धरातल पर खड़े हैं लोगों के साथ, ऊपर उन मुट्ठी भर साधन संपन्न लोगों की ओर देखते हैं जिनके कारण 'सिर्फ एक मौत' का नायक लंबी कमीज और पायजामा पहनकर, अपने मित्रों के बीच 'चमगादड़' की तरह दीखता था, और चुप्पी तोड़कर, कभी-कभी थोड़ा-सा हंसकर, सहमकर चुप हो जाता था. . .फर्स्ट इयर में, फर्स्ट डिविजन पाकर भी कथानायक अगली परीक्षा नहीं दे पाया था. स्पष्ट है–कारण आर्थिक है, और आर्थिक है, तभी राजनीतिक भी है.

'सिर्फ एक मौत' बीमार व्यवस्था और षड्यंत्र के बीच, मुर्दों की तरह जी रहे मनुष्य की आर्थिक और सामाजिक विडंबनाओं को, और व्यवस्था के खिलाफ सतत संघर्ष को बड़ी शिद्दत के साथ चिह्नित करती है.

बीच तो बहुत दूरी है. लाश दूर तक बहकर कैसे जा सकती है?

बलदेव कह रहा है कि शंकर गया है. लो-टाइड में चीजें समुद्र में मीलों अंदर तक चली जाती हैं, उसके बाद हाई-टाइड में वापस लौट आती हैं. लाश मैरीन ड्राइव पर पायी गयी तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है.

जगदीश के अनुसार बंबई की पुलिस कामचोर है वरना लाश आज से दो दिन पहले मिल जानी चाहिए थी.

मेस हाल में शोकसभा हो रही है. भीड़ की भीड़ एकत्रित हो गयी है. कोई धीरे-से फुसफुसाता है, "बेचारे की मां नहीं थी. कई दिनों से उसकी मां स्वर्ग में से उसे बुला रही थी, इसीलिए उसने आत्महत्या कर ली. सब भगवान की मरजी है." वार्डन शोक-प्रस्ताव पढ़ रहा है. "उनके दुखद निधन ने हमसे एक होनहार नागरिक को छीन लिया है. वह बेहद मेहनती स्वभाव का, हंसमुख और सबसे मिलजुलकर रहनेवाला व्यक्ति था."

उसका पार्टनर उसका निकटतम मित्र होने के नाते बोल रहा है, "मैंने उसे करीब से देखा है. बहुत ईमानदार आदमी था. शुक्रवार को जाने से पहले उसने मुझसे मांगी हुई फिजिक्स की किताब मेरे बिस्तर पर रख दी थी. उसने कभी किसी से झगड़ा नहीं किया." हम दो मिनट तक मौन रखकर उसकी आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना करते हैं. . .

दो सौ पचास सिर खामोशी से झुक जाते हैं. मेरे बगल में खड़ा हुआ सत्ती धीरे-धीरे अपनी पीठ खुजला रहा है. . . मैं अपने इर्द-गिर्द एक घोंघे की-सी लिजलिजाहट महसूस करता हूं. और मेरे खयालों में एक चमगादड़-सा फड़फड़ाने लगता है. लगता है, कोई चिल्ला रहा है, "ये सब हत्यारे हैं. हर व्यक्ति इनके मुंह पर थूके और एक-एक थप्पड़ लगाये." थप्पड़ों की आवाज गूंजती जाती है. . . चटाक. . . चटाक. . . चटाक. . . चटाक. . . सत्ती धीरे से पूछ रहा है, "अभी दो मिनट नहीं हुए क्या?" □

साक्षात्कार

मैं कठमुल्लेपन में विश्वास नहीं रखता

स्व. पं. बनारसी दास चतुर्वेदी भारतीय इतिहास के उन मील-स्तंभों में एक हैं जिन्होंने आजादी की लड़ाई में तो सक्रिय रूप से काम किया ही. . . पत्रकारिता, साहित्य और राजनीति में भी महत्वपूर्ण रहे. . .प्रस्तुत है शैलेंद्र गुप्त शैली के साथ हुई संभवतः उनकी अंतिम बातचीत एक श्रद्धांजली के रूप में. . .

चतुर्वेदी जी : एक कृती व्यक्तित्व

अगर 20 साल की एक पीढ़ी मान ली जाये तो आप पांचवीं पीढ़ी में जी रहे हैं. इस लंबे अनुभव के आधार पर पुरानी पीढ़ी और वर्तमान पीढ़ी की पत्रकारिता में क्या अंतर पाते हैं?

पहले पत्रकारिता एक मिशन थी. उसमें जीवन का उद्देश्य समाहित था. अब वह व्यवसाय बन गयी है, वृत्ति बन गयी है. शहीद गणेश शंकर विद्यार्थीजी ने 'विष्णुदत्त की पत्रकार कला' पुस्तक की भूमिका में लिखा था, "अब वह समय आने वाला है कि थोड़ी-सी पूंजी से कोई अखबार नहीं निकाल सकेगा. यह काम पूंजीपतियों के हाथ में चला जायेगा." दरअसल, यही हुआ कि विद्यार्थीजी के जीवन काल में ही इस क्षेत्र पर पूंजीपतियों का प्रभाव पड़ने लगा.

क्या वर्तमान साहित्यकारों, पत्रकारों, संपादकों तथा पत्र-स्वामियों में आदर्शवादिता है?

देखिए, सबको एक लाठी से हांकना न्यायोचित नहीं. वैसे प्रायः देखा जाए तो आजकल आदर्शवादिता की खोज करना गधे के सिर पर सींग तलाशने की तरह है.

नयी पीढ़ी का ख्याल है कि इसके लिए पुरानी पीढ़ी अथवा 'मठाधीश' भी दोषी हैं?

क्यों नहीं, यदि इनमें आदर्शवादिता की कुछ कमी है तो हम वयोवृद्ध पत्रकार भी दोषी हैं. हम उनके सामने कोई उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित नहीं कर सके. लेकिन इसके मूल में यह है कि पूंजीवाद की बाढ़ में आदर्शवादी—निराश्रित पत्रकार डट नहीं सकते थे. फिर भी बहुतों ने अपने गौरव की रक्षा की है. भविष्य में अपने को संगठित करके कुछ किया जा सकता है. जीवन के संघर्ष इतने कठोर हो गये हैं. समाज-व्यवस्था इतनी जटिल है, भ्रष्टाचार इतना बढ़ा है कि पग-पग पर समझौते करने पड़ते हैं. कटु सत्य तो यह है कि आदर्शवाद तो बड़े आदमियों का चोंचला रह गया है.

क्या आपको भी लेखन में व्यावसायिक समझौता करना पड़ा था कभी?

मुझे, जीविकोपार्जन के लिए कभी भी अपनी लेखनी पर ही निर्भर नहीं रहना पड़ा. महात्मा गांधी, रवींद्रनाथ टैगोर तथा रामानंद बाबू के यहां रहा तो बंधा-बंधाया वेतन मिलता रहा. अध्यापिकी भी कर चुका हूं. पार्लियामेंट में रहा, तो वहां तो सवाल किसी बात का था ही नहीं. वस्तुतः मुझे उन कठोर परिस्थितियों का मुकाबला नहीं करना पड़ा जो कि मामूली पत्रकार के जीवन में आया करती हैं.

'सारिका' संपादक ने (अंक : 310) 'अपनी बात' के तहत लिखा है, "अक्सर युवा पीढ़ी पर नकारा और निकम्मेपन का आरोप लगाया जाता है. साहित्य-जगत में भी पुरानी पीढ़ी, नयी पीढ़ी से सम्मान तो पाना चाहती है, लेकिन उसे अपना निश्छल और भरपूर प्यार नहीं देना चाहती. उसे 'बच्चा पार्टी' कहकर उसके साथ तादात्म्य और संवाद की स्थिति जोड़ने से कतराती है. यही कारण है कि पीढ़ियों का गैप बढ़ता ही जा रहा है." इस टिप्पणी पर कुछ कहें.

इस टिप्पणी पर क्या कहूं? मैं, कह तो तब सकता था, जब नयी पीढ़ी के बारे में पूरी जानकारी होती. नयी पीढ़ी को 'बच्चा पार्टी' कहकर उससे संवाद की स्थिति न बनाने की बात अच्छी नहीं है. 'विशाल भारत' के दिनों में नये लोगों को मेरे द्वारा खूब प्रोत्साहन मिला है. एक बात और है, आजकल विधिवत ट्रेनिंग लोग कम लेते हैं. यों ही पानी में कूद पड़े और थोड़ा-बहुत तैरना सीख गये. विधिवत ट्रेनिंग तो हम लोगों में से बहुतों को नहीं मिली. यद्यपि यहां गणेश शंकर जैसे भी महान पत्रकार पैदा हुए हैं. ट्रेनिंग, किसी ऑफिस में काम करने पर अथवा पत्रकारिता के 4-5 वर्षीय कोर्स की प्रारंभिक तैयारी के बाद. दूसरी बात, गाइडेंस देनेवाले पत्रकार भी कम पैदा हुए हैं. फीरोजाबाद में नयी पीढ़ी के लेखक अधिक नहीं हैं. मुझसे मिलते-जुलते भी नहीं. आपका तो आना-जाना लगा रहता है. उल्लेख योग्य बात यह है कि जो आदमी किसी विषय विशेष में विशेषज्ञता प्राप्त करना चाहता है, तो उसे संपूर्ण समय अपने विषय को ही देना पड़ता है. मेरे पास समय होता तो उनसे मिलता, उनके बारे में लिखता. लेकिन न तो मेरे पास समय है, न उत्साह है, न ही शक्ति है कि अन्य कार्यों में दखल दे सकूं.

अगर युवा पीढ़ी के रचनाकार आपके पास आयें और आपसे कुछ सीखना चाहें तो समय देंगे आप?

नवीन लेखक तो अपने रास्ते चले जा रहे हैं. वे मेरे जैसे 90 वर्षीय बूढ़े पत्रकार और 'दकियानूसी' आदमी की बात पर क्यों ध्यान देने लगे? अगर आते हैं, तो स्वागत है ही—पर अब तो ज्यादा बोलने की भी शक्ति नहीं. नेत्र-ज्योति तीव्र नहीं रही. कोई सुना देता है, तो सुन लेता हूं. सच माना जाए तो नयी पीढ़ी के लोग यह समझते हैं कि हम 'आउट आफ डेट' हैं. शायद 2–4 ऐसे भी हों, जो पूर्वजों के अनुभव से लाभ उठाना चाहें, नयी पीढ़ी वाले अपने नये आदर्शों पर चलें, नया रास्ता चुनें. दरअसल, वे बराबर हम लोगों के 'गाइडेंस' में रह भी नहीं सकते.

इस उम्र में आप पढ़ तो सकते ही नहीं, पर पहले क्या नये लेखकों को पढ़ते थे?

यह मेरा दुर्भाग्य है. और मैं अपनी इस गलती को मंजूर करूंगा कि नये लेखकों को पढ़ने का मौका बहुत कम मिला.

आप सर्वाधिक किस चीज को पढ़ना पसंद करते हैं?

अपने विस्तृत जीवन में मैंने बहुत कम पढ़ा.

ज्यादा पढ़ने में विश्वास भी नहीं रखता. जिसे चलती-फिरती किताबों, स्त्री-पुरुषों के चरित्रों का अध्ययन करने का मौका मिला हो, वह निर्जीव-सूखी किताबों को पढ़कर क्या करेगा? कुछ ग्रंथकार प्रिय रहे हैं. उनको ही बराबर पढ़ा है. गीता और धम्मपद तथा एमर्सन, एडवर्ड कारपेंटर एवं थोरो के ग्रंथों से प्रेरित हुआ हूं.

आप वर्षों 'विशाल भारत' और 'मधुकर' के संपादक रहे हैं. रचना-चयन के समय कौन-सा दृष्टिकोण अपनाते थे? नये लेखकों को प्रोत्साहित करते थे?

रचना-चयन के समय व्यापक लोकोपकारी दृष्टिकोण अपनाता था. लिखाई पर भी ध्यान देता था. बहुत से लेख-लिखाई दोषपूर्ण होने के कारण मैंने वापस किए थे. बहुत से लेखक जो आगे चलकर प्रतिष्ठित बने, उनमें कितने ही 'विशाल भारत' के द्वारा ही बने. 1928 से 1937 तक मैंने 'विशाल भारत' का संपादन किया था. दिनकरजी का उदय इसी पत्र के जरिए हुआ था. मेरठ की कमला चौधरी व सत्यवती मलिक 'विशाल भारत' से ही बनीं. पं. श्रीराम शर्मा की भी सेवा इसी पत्रिका ने की. बीसियों लेखकों को सामने लाया गया. इसका श्रेय मैं नहीं लेता. इसके कारण थे —रामानंद बाबू.

नयी पीढ़ी के रचनाकारों में यह आक्रोश पाया जाता है कि 'बड़ी' पत्रिकाओं के संपादक अपने 'गुट' के लेखकों-परिचितों के कूड़ा-करकट को भी छाप देते हैं, जब कि नये लोगों की रचनाओं में दोष बताकर या बिना कारण बताए वापस कर देते हैं? आपके क्या विचार हैं?

इस विषय पर अधिकार पूर्वक कुछ भी कहना कठिन है. क्योंकि वर्तमान लेखकों-संपादकों के संपर्क में रहा नहीं. मेरे लेख तो विषय विशेष होने के कारण बराबर स्थान पाते रहे हैं. किसी भी पीढ़ी के संपादक से मतभेद नहीं रहा. पर, ऐसी बात नहीं कि मुझे 'खेद स्लिपों' का सामना न करना पड़ा हो. पर मैं बुरा नहीं मानता.

आपके समय में स्वतंत्र पत्रकारिता अथवा लेखन की क्या स्थिति थी, और अब क्या है? क्या इससे पेट भरना संभव दीखता है?

'स्वतंत्र लेखन-पत्रकारिता' हमेशा एक खतरनाक काम रहा है. इसके भरोसे जीवित रहना बिलायत और हिंदुस्तान में पहले भी मुश्किल था, अब भी है. हिंदुस्तान में तो और भी कठिन है! स्वतंत्र लेखन को बैसाखी न बनाकर मात्र लकड़ी का सहारा मानकर चलना चाहिए. इससे चाय का प्रबंध हो सकता है, रोटी का नहीं. लेख लिखना तो आसान है—पर उसे स्वीकृत कराना—परिश्रमानुसार पारिश्रमिक पाना कठिन है. जब कि पत्र-पत्रिकाओं की स्थिति पूर्वापेक्षा बहुत अच्छी हो गयी है, फिर भी रचनाकार को वांछित पारिश्रमिक नहीं मिल रहा. पं. बालकृष्ण भट्ट के यहां 'धी' जब आता था—तब उनके अखबार 'प्रदीप' का वार्षिक शुल्क एक रुपया बारह आना आता था! उस वक्त भूखों मरकर पत्रों का संपादन होता था. पत्र डाल-डालकर ग्राहक बनाए जाते थे! आज तो संपादकों के ही वेतन चार-चार अंकों में हैं! बेरोजगारी की दशा में सी. वाई. चिंतामणि भी स्वतंत्र पत्रकारिता से जीविका नहीं चला सके. मैं स्वयं इसमें असफल रहा.

संसार का सर्वोत्तम पत्रकार आपकी नजर में कौन है?

एच. डब्ल्यू. नैविसन को संसार का सर्वश्रेष्ठ पत्रकार मानता हूं. मैंने इनका स्कैच भी लिखा है.

अंतिम सांस तक सक्रिय

दादाजी, आप सर्वाधिक किस लेखक से प्रभावित हैं? जीवन में किन-किन महापुरुषों का सान्निध्य रहा है?

मैं अनेकों महापुरुषों के संपर्क में आया. कभी किसी भाषा का भेद नहीं किया, पत्रकारिता अंतर्राष्ट्रीय विषय है. मेरे हृदय में 'मानचेस्टर गार्जियन' के संपादक सी. पी. स्कॉट और रामानंद बाबू के प्रति एक-सा सम्मान रहा. ऐसे ही 'जमाना' के संपादक (उर्दू) मुंशी दयानारायण निगम थे. पराड़करजी का कृपाभाजन रहा. विद्यार्थीजी से तो मेरा 1915 से परिचय था. महावीर प्रसाद द्विवेदी और पं. अंबिका प्रसाद वाजपेयी तो सबके गुरु थे. सर्वाधिक प्रभावित रहा, रामानंद बाबू, सी. वाई. चिंतामणि और विद्यार्थीजी से.

महात्मा गांधी से आपकी खुलकर बातचीत होती रही थी. 'वाणी स्वतंत्रता' के परिप्रेक्ष्य में उनका दृष्टिकोण क्या था?

बहुत खूब, शैली! प्रासंगिक सवाल उठाया तुमने. गांधी जी के दृष्टिकोण को एक उदाहरण से , 'सारिका' के विज्ञ पाठक समझ जायेंगे. दक्षिण भारत के एक पत्रकार द्वारा अछूतों के खिलाफ छापने पर गांधीजी ने उससे पूछा, "आपने अछूतों के खिलाफ क्यों लिखा?" पत्रकार का उत्तर था, "हमारे मालिक की यही राय है." तो गांधी जी ने कहा, "तुम्हारी अंतरात्मा नहीं कहती तो क्यों लिखा?" पत्रकार महोदय बोले, "हमको जिंदा रहना है!" गांधी जी बोले, "क्यों?" गांधी जी का अभिप्राय था कि तुम मर क्यों नहीं जाते, जिंदा ही क्यों रहना चाहते हो?

गांधीजी के समर्थक-भक्त होने के बावजूद हिंसात्मक क्रांति में आपकी आस्था क्यों रही है?

मैं कठमुल्लेपन में विश्वास नहीं रखता. आदमी को स्वाधीनता मिलनी चाहिए. अगर वह अहिंसात्मक तरीके से न मिले तो हिंसात्मक तरीकों से उसे प्राप्त करना मैं कोई नैतिक अपराध नहीं मानता. रूसी लोगों से मैंने कहा था, "आपको लेनिन और मार्क्स से ही संतुष्ट नहीं रहना चाहिए. आपको क्रोपाटकीन (अराजकतावादी) तथा गांधीजी को भी साथ लेना पड़ेगा." जो समन्वयकारी या समन्वयवाद में विश्वास रखता है—वह कठमुल्ला नहीं बन सकता.

लेकिन आप तो 'अराजकतावादी' थे न! 'विशाल भारत' में लेखों द्वारा उसका जोर-शोर से प्रचार भी करते थे—तो आप राज्य-सभा में कैसे चले गये थे?

अराजकतावाद पर हिंदी लेख लिखना मैंने ही शुरू किया था. आप का कहना सही है. इस 'वाद' में हार्दिक विश्वास है, इसके सिद्धांतों को भी स्वीकारा—पर तदनुसार रह नहीं पाया. 'अराजकतावाद' हिंदुस्तान में बहुत पहले से प्रचलित था. लेकिन उसके अनुसार रहने वाले कम हुए. विदेश में भी प्रोदधन, क्रोपाटकीन व बाकलीन आदि 4-5 व्यक्ति ही हुए. यह एक आकस्मिक घटना समझिए कि ऊपर से 'हुक्म' आ गया कि तुम राज्य-सभा हेतु खड़े हो जाओ, और मैं खड़ा हो गया. मैं, राजनीतिक आदमी न था. अर्जी देना तो रहा दूर, सपने में भी कभी मेंबरी की न सोची थी.

1952 से 1964 तक राज्य-सभा की मेंबरी के दौरान हिंदी हेतु क्या किया?

जो आदमी किसी कॉज को ले लेते हैं, उसके पास अन्य विषयों में भटकने या पथभ्रष्ट होने का समय नहीं रहता. दिल्ली प्रवास के दौरान संपूर्ण समय हिंदी भवन (दिल्ली में) की स्थापना और शहीदों के श्राद्ध कार्य में बीता. हिंदी भवन में तो 3500 रु. मेरी गांठ से लग गये थे. आत्मविज्ञापन न माना जाए तो कहूंगा कि 12-14 व्यक्तियों को पेंशन इस दौरान मैंने ही दिलवायी. शहीदों के

पितृभक्ति

■ श्रीनिवास वत्स

बूढ़े मोती चंदर की छप्परनुमा झोंपड़ी गांव की बाहरी पश्चिमी गली में थी. डेढ़ एकड़ जमीन उसके पुरखों से चली आ रही थी. एक बूढ़ी भैंस पाली थी जिसे मरे तीसरा वर्ष लग गया. जमीन भी गिरवी रख दी.

यों तो चंदर के चार बेटे थे पर चंदर के लिए तो चारों ही मर चुके थे क्योंकि उसे याद नहीं उनमें से कभी किसी ने उसका कोई काम किया हो.

एक दिन पोती को गोद में लिये चंदर दूकान के बाहर बैठा था. लड़की गोदी से उतरकर इधर-उधर सड़क पर भाग जाती. सड़क पर आते-जाते वाहनों को देख चंदर का मन घबराया. वह उठा और लड़की को पकड़ने दौड़ा ही था कि सामने से आते ट्रक से टकरा गया. लड़की तो बच गयी पर वह गिर पड़ा. रक्त भी बहुत बह गया और लगभग आधे घंटे तक अचेत होकर वह छटपटाता रहा.

सबसे छोटा लड़का तुरंत बाहर आया. ड्राइवर ने ट्रक रोक दिया था. लोग इकट्ठे हो गये. कुछ देर बाद उसके बाकी बेटे भी वहां आ पहुंचे, पर तब तक चंदर दम तोड़ चुका था.

अब चारों पुत्रों ने ट्रक ड्राइवर को पकड़ लिया और मारना शुरू कर दिया.

कुछ देर बाद सौदा तय हुआ. बूढ़े की लाश की बोली लगने लगी. ड्राइवर ने कहा, "मैं बारह सौ रुपये दे दूंगा." लड़कों ने चार हजार की मांग की.

ड्राइवर सोल्ह सौ तक पहुंच गया. लड़के अठाईस सौ तक आ गये. वे इससे कम नहीं उतरना चाहते थे क्योंकि चारों के हिस्से में कम से कम सात-सात सौ तो आने ही चाहिए. बड़े लड़के को बिटिया की शादी करनी है, उससे छोटे की पत्नी बीमार है, उसे इलाज के लिए पैसे चाहिए. उससे छोटे को शराब के लिए तो कनिष्ठ को

अपनी दूकान पक्की करवाने के लिए पैसों की आवश्यकता थी.

कुछ देर बाद फिर सौदेबाजी हुई, अंत में दो हजार में फैसला हो गया.

लड़के बूढ़े का दाह संस्कार कर आये. वे भी आज प्रसन्न थे. उन्हें मुफ्त में पांच-पांच सौ रुपये मिल गये थे.

बड़े लड़के ने कहा, "बूढ़े को तो मरना ही था. अच्छा हुआ बेचारा यहां जलालत भुगत रहा था."

शेष तीनों ने भी लंबी सांस लेकर उसकी बात का अनुमोदन कर दिया. □

● शास्त्री सदन, शास्त्री मार्ग, 392 बी. इंदिरा कॉलोनी, रोहतक (हरियाणा)

श्राद्ध पर मेरी लिखी 23-23 किताबें और स्पेशल नंबर वगैरह छपे हैं.

विसंगतियों के इस दौर में पाठक कुछ 'नयेपन' या 'सामयिक' की तलाश में है. ऐसे में पुरानी विभूतियों के पुर्नमूल्यांकन की बात जंचती है आपको?

पाठकों की तलाश अपनी जगह सही है. पर आजकल पुनर्मूल्यांकन के नाम पर एक कुप्रथा चल रही है, वह है—'मूर्ति भंजन'. अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के एक प्राध्यापक ने अपनी 80 रुपये मूल्य की किताब 'प्रेमचंद का पुर्नमूल्यांकन' में कई कल्पित बातें लिखी हैं. कोई अनाचार हुआ है कहानी में तो थोप दिया है प्रेमचंदजी पर. एक सज्जन, नाम नहीं लेना चाहता, गणेश शंकर विद्यार्थी का पुर्नमूल्यांकन करना चाहते हैं. अब विद्यार्थीजी अपने बलिदानों से इतने ऊंचे उठ गये हैं कि उनमें भी दोष निकालना, क्यों कि पुराने अखबारों में उनके खिलाफ भी छपा था, हिमाकत की बात है. यह निंदनीय है. यह मनोवृत्ति बहुत से लेखकों में है. महापुरुषों के दोष निकालने में उन्हें मजा आता है. लेकिन एक बात है, समय-समय पर महापुरुषों के बारे में ओपीनियन बदलती रहती है—उसे संयत भाषा में कहने में एतराज नहीं होना चाहिए, पर दोष-दर्शन की दृष्टि से कदापि नहीं.

आपने लेखन कब प्रारंभ किया था?

1912 के मई-जून में महामना मदन मोहन मालवीयजी से मिली 'सैल्फ हैल्प' (जब मैं आगरा कालेज में फर्स्ट इयर में सर्वोत्तम रहा था) पुस्तक के आधार पर लिखा लेख 'आत्मावलंबन' शीर्षक से सर्वप्रथम काशी से प्रकाशित और स्व. केशवदेव शास्त्री द्वारा संपादित पत्र 'नवजीवन' में छपा था. यहीं से शुरुआत समझिए.

आपके लेखन पर कभी राजनैतिक असर भी पड़ा?

यद्यपि मुझे कांग्रेस का सदस्य बनकर राज्य-सभा में जाना पड़ा, जब कि उसके पूर्व कांग्रेस का चवन्नी वाला मैंबर तक न था. वस्तुतः मैं राजनैतिक जंतु नहीं हूं. अधिकांश राजनेता शोषणवादी होते हैं. दलगत राजनीति के प्रति मेरे दिल में कभी कोई श्रद्धा नहीं रही, सदैव पृथक रहा हूं. फिर, मुझे ऐसे विषय मिले, जिसकी चर्चा ऊपर कर चुका हूं, जिनमें सभी सरकार और राजनैतिक पार्टियों की सहानुभूति और मदद रही. अतः मेरे लेखन पर कभी राजनैतिक असर नहीं पड़ा.

अच्छा दादाजी, आपके लिए शतायु से अधिक की कामना!

यह जुल्म मत करो, शैली. भा. द. विधान में जानवरों पर जुल्म करना एक अपराध है. इस दृष्टि से लगभग 90 वर्षीय बूढ़े बैल को जोतना भी एक जुर्म है (वातावरण में हंसी घुल जाती है!) सरकार तो 58 वें वर्ष में रिटायर कर देती है. मुझे तो कभी का रिटायर (लेखन से) हो जाना चाहिए था. सच, शैली, अब मेरे पास बहुत कम समय ही शेष बचा है. यह तो हिमाकत है कि जिंदा हूं. □

और सपने सच हो गये

राज उपाध्याय

इच्छा शक्ति के आगे क्या कुछ संभव नहीं है. . . यदि उसे योग, अध्यात्म या विज्ञान का सहारा मिल जाये ! मनुष्य की इच्छा शक्ति का ही परिणाम है जो आज हम आकाश-पाताल की पड़ताल कर पा रहे हैं. . .ऐसी ही दृढ़ इच्छा शक्ति वाली मां-बेटी की कहानी जिन्होंने अनहोनी को होनी में बदल दिया—

सुबह से ही दादी मां व्यस्त थी. सुबह जल्दी उठकर उन्होंने पूरे घर को ठीक-ठाक किया. ड्राइंग रूम के परदे और कुशन बदले. एक-एक चीज को अच्छी तरह से झाड़ा-पोंछा. . .कि कहीं कोई खराबी न रह जाए. जब सफाई से पूरी तरह आश्वस्त हो गयीं तो उन्होंने अपने कदम रसोईघर की तरफ बढ़ा लिये. अब वे सपना की पसंद की चीजें बनाने में लग गयीं.

घर में आज खास तरह की हलचल थी. बरसों से जो घर मुर्दनी ओढ़े हुए था आज चमक उठा था. दादी मां, सिद्धार्थ और कुमुद के चेहरे खुशी से दमक रहे थे. दमकते भी क्यों नहीं, सपना वर्षों बाद अपने देश लौट रही थी. सिद्धार्थ और कुमुद की इकलौती लाड़ली संतान सपना. बीस साल पहले सपना जब सेंट मैरीस स्कूल में कक्षा पांच में पढ़ती थी तभी सिद्धार्थ और कुमुद मंसूरी गये थे. परीक्षाओं की वजह से सपना उनके साथ न जा सकी थी. इन लोगों को गये बीस दिन भी न बीते थे कि एकाएक सिद्धार्थ बदहवास से बुझी-बुझी आंखें लिये अपाहिज कुमुद के साथ वापस आ खड़े हुए थे.

दादी मां कुछ समझ नहीं पा रही थी कि आखिर इन लोगों को हो क्या गया. . .दरअसल होटल की सीढ़ियों से फिसलकर कुमुद अपनी आवाज और दोनों टांगों से हाथ धो बैठी थी.

इसके बाद सिद्धार्थ कुमुद को लेकर जाने कहां-कहां हो आये. पर कुमुद के दुर्भाग्य के आगे किसी का जोर नहीं चला. मां की चुप्पी सपना के लिए असह्य थी, उसने दृढ़ संकल्प किया कि वह विधाता का क्रूर फैसला बदलकर रहेगी.

दादी मां ही थी जो पूरे घर को किसी तरह संभाल रही थी. सपना को भी उन्होंने ही संभाला था.

समय आजाद पक्षी की तरह उड़ान भर रहा था. देखते-देखते सपना डाक्टरी की पढ़ाई के लिए इंग्लैंड चली गयी. एम. बी. बी. एस. और एम. आर. सी. पी. करने के बाद उसने डाक्टरी शुरू कर दी.

आज बरसों बाद सपना अपने देश लौट रही थी. . .

घंटी की आवाज सुनकर दादी मां ने लपककर दरवाजा खोला. सपना ने दादी मां के पांव छुए और दादी मां ने उसे गले से लगा लिया. सपना की आंखें मां को ढूंढ़ रही थीं. व्हील चेयर पर मां को देख सपना की आंखें भर आयीं. . .

सिद्धार्थ ने सपना के लिए क्लिनिक बनवा दिया. एक दिन शहर भर के डाक्टरों को सिद्धार्थ ने अपने यहां आमंत्रित किया. डा. नवनीत सपना के व्यक्तित्व और योग्यता से बहुत प्रभावित हुये. वे पहले भी भारत में सपना के साथ अध्ययन कर चुके थे. बाद में सपना इंग्लैंड चली गयी और डाक्टर नवनीत फैलोशिप पर अमेरिका गये. पर वहां की चकाचौंध से हटकर वे फिर स्वदेश लौट आये और सरकारी अस्पताल में काम करने लगे. . .

घंटी बजते ही सपना चौंक गयी. दरवाजा खोला. डाक्टर नवनीत खड़े थे. "आप!" उसकी आंखों में अचरज के बादल घुमड़ आये थे.

डाक्टर नवनीत सपना के दुख में भागीदार होने के लिए आये थे, "सपना क्या तुम मुझे पहले की रिपोर्टस और एक्सरे दिखा सकती हो."

डाक्टर नवनीत ने रिपोर्ट और एक्सरे आदि ठीक तरीके से देखे और वे सपना की मां के इलाज में जुट गये. दिन-रात कई तरह के टेस्ट करते रहे. आखिरकार सपना की मेहनत और डा. नवनीत का विश्वास रंग लाया. एक बड़े आपरेशन और प्लास्टिक सर्जरी के बाद कुमुद को नयी जिंदगी मिली. अब वह किसी पर बोझ नहीं थी.

एक दिन कुमुद ने त्रिवेणी कला संगम में आयोजित सांस्कृतिक कार्यक्रम का विज्ञापन पढ़ा और सिद्धार्थ को दिखाया. सिद्धार्थ कुमुद को लेकर समय से त्रिवेणी कला संगम पहुंच गये.

श्रीमती भंडारी एक पुराना गीत बड़ी तन्मयता से गा रही थी और श्रोता मंत्र मुग्ध हो सुन रहे थे.

कुमुद के भीतर जैसे कुछ रह-रहकर उमड़ रहा था. एकाएक वह गीत की पंक्ति गा उठी. सिद्धार्थ अवाक देखता रह गया था. और सभा विचलित हो उठी थी. श्रीमती भंडारी को आवाज परिचित-सी लगी. उन्होंने सर उठाकर देखा तो बचपन की सहेली को देखकर वे बदहवास-सी उसकी ओर दौड़ पड़ी.

श्रीमती भंडारी कुमुद को गले लगाये खड़ी थीं और श्रोतागण भावविह्वल होकर अपनी-अपनी जगह बैठे हुए थे.

श्रीमती भंडारी जाने क्या कुछ जान लेना चाहती थी. पर कुमुद ने उनके किसी प्रश्न का उत्तर न देकर सिर्फ यह पूछा, "क्या मैं तुम्हारे साथ यह गीत गा सकती हूं?"

श्रीमती भंडारी ने तुरंत कुमुद की कला-प्रतिभा का परिचय श्रोताओं से करवाया. और दूसरे ही क्षण दोनों सहेलियों की मधुर स्वर लहरी गूंजने लगी.

इसी बीच सिद्धार्थ बहुत तेजी से घर आकर मां, सपना और डा. नवनीत को लेकर त्रिवेणी कला संगम पहुंच गये थे. सभी हैरान थे कि एकाएक कुमुद की आवाज कैसे ठीक हो गयी!

गायन समाप्त होने पर कुमुद ने मंच पर खड़े होकर श्रोताओं को अपना दुखद इतिहास सुनाया. और बताया कि किस तरह गीत के ठोस बोल से उसकी वर्षों से खोयी हुई वाक्शक्ति पुनः जागृत हो उठी थी.

सभा चमत्कृत थी.

दादी मां ने दौड़कर कुमुद को अपनी बांहों में भर लिया. . .लगा जैसे वर्षों पुराने सपने सच हो गये थे.

● 10-बी, पन्नालाल रोड, इलाहाबाद (उ. प्र.)

वास्तविकता

▣ सुरेंद्र श्रीवास्तव

वह नदी किनारे बैठा था—बड़ी मुस्तैदी से. हाथों में कसकर बंदूक थामे हुए था. उसकी बगल से गुजरते हुए मुझे कौतूहल हुआ तो उससे पूछ बैठा, "क्यों भई, क्या इरादा है? किसलिए बैठे हो?"

"मगरमच्छ मारने बैठा हूं." उसने बतलाया.

"मगरमच्छ मारने? क्यूं भला?" मैंने जिज्ञासा प्रकट की.

"दरअसल सरकार की ओर से मुझे उन्हें मारने के लिए नियुक्त किया गया है. वे नावों को डुबो देते हैं न!" उसने जिज्ञासा शांत की. अब उसने सिगरेट सुलगा ली थी.

हम लोगों का वार्तालाप चल ही रहा था कि सहसा पानी में से एक मगरमच्छ ने सिर उठाया. मैंने उसका ध्यान इस ओर आकर्षित करते हुए कहा, "वो देखो मगरमच्छ, चलाओ गोली."

आराम से सिगरेट का धुआं निकालते हुए उस आदमी ने कहा, "क्यों मारूं?"

मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ! भौचक्का होकर पूछ बैठा, "भई, तुम्हें मगरमच्छ मारने के लिए ही तो सरकार ने यहां नौकरी दी है न? फिर तुम यह क्यों कहते हो कि क्यों मारूं."

"हां, क्यों मारूं?" उस आदमी ने और दृढ़ता से उत्तर दिया, "मुझे क्या अपनी नौकरी खोनी है?"

मैं वास्तविकता समझ आगे बढ़ चला. □

● 162, शुगर मिल कालोनी, शामली–247776

चरित्रहीन कौन?

बाला शर्मा

"रंजन... उठ बेटा!"

"जी, जी बाबूजी!" सहसा वह पिता के कंधे पर सिर रखकर सिसक उठे. अन्य साथ आये लोग भी विचलित हो उठे थे. धू-धू करती चिता की अग्नि अब शांत होने लगी थी...

सत्तर वर्ष की आयु होगी उनकी. जीवन के अंतिम चरण में यह सब देखना भी बदा है. आंसू ढुलक कर गालों पर बह आये हैं, परंतु बेटे को सहारा दिये चल रहे हैं... और जिसका अंतिम संस्कार कर आये हैं, कौन थी वह इस घर की जो साही के पैने कांटे-सी सदा इस घर की छाती पर धंसी रही!

प्रातः किटकिटाते शीत में खड़े रहे थे वहां थाने के सामने, तब कहीं मरनेवाली का शरीर उन्हें सौंपा था गोरी सरकार के उन चापलूसों ने. लोहे की जाली मढ़ी बंद गाड़ी में से स्ट्रेचर उतारकर सामनेवाले मैदान में रख दिया गया. चारों ओर पुलिस का पहरा अभी भी उतनी ही सतर्कता से व्यवस्थित था. मरनेवाली जिसका शरीर गोलियों से छलनी कर दिया गया था.. और पोस्टमार्टम में हाथ-पांव-छाती सब कुछ क्षत-विक्षत कर दिया गया है, क्या अब पुनः अपने प्रचंड वेग से इन दरोगा-सिपाहियों पर टूट पड़ेगी! अब जब सब कुछ जलकर भस्म हो गया है तब सब कुछ चलचित्र-सा क्यों डोल रहा है दृष्टि में!

स्त्री होना ही पाप है या बस चाहे जैसे भी हो तथाकथित रूप से 'स्त्री धर्म' को निभाते चले जाना?—स्त्री-चरित्र की मीमांसा करते उपन्यास का सार-संक्षेप कि चरित्र क्या होता है और चारित्रिक-पतन का मूल्यांकन अंततः किस कसौटी पर किया जाना चाहिए?...

अभी कल का-सा प्रसंग लगता है. श्वेत-श्यामल चौकोर संगमरमर के उस विशाल आंगन में सामान सब कहीं अस्त-व्यस्त दशा में पड़ा था. घर के कोने में बड़ा-सा तख्त और लोहे की भट्ठी, कड़ाहा, जो ठंडे हो गये थे. अलसाये बदन उबासी लेते नौकर-चाकर, मेहमान, पड़ोसी सब थककर जहां स्थान मिला सो गये. बस, केवल गृहस्वामी को ही विश्राम नहीं.

"बाबूजी, पलंग पर जाकर सो जाइए न." कनक ने स्निग्ध कंठ से आग्रह किया गया था... उनकी नींद उचट गयी.

धन, यश, मान, सब किसी की फेहरिस्त बनाने की आवश्यकता नहीं, फिर ऐसा क्या है जो उन्हें उठते-बैठते कसक दिये रहता है... कनक? ...हां, कनक ही तो है न विशेष कारण. वही तो दुःख की प्रतिमूर्ति, उनकी चिरशत्रु बनी छाती पर कील-सी धंसी है.

विपिनचंद्र का नगर के गणमान्य धनी वर्ग में विशेष स्थान था. कनक, अमला और बड़ा बेटा रंजन. सर्वसुख था उन्हें, रायल्स क्लब के मेंबर थे, जहां अधिकतर गोरे शासक ही प्रवेश पा सकते थे.

राय साहब का बड़ा बेटा सीनियर कैंब्रिज में पढ़ता था. कभी-कभी छुट्टियों में घर आता. छोटा नितिन कनक के साथ ही कालेज में पढ़ता था. दिनेश का गोरा-छरहरा ऊंचा बलिष्ठ शरीर, चौड़े स्कंध, उन्नत ललाट और तीखी नासिका बौद्धिकता का संकेत देती.

कनक तो क्लब में स्वीमिंग पूल के किनारे ही खड़ी रहती. दिनेश, नितिन और रंजन में तैरने की होड़ लगी रहती कि कौन प्रथम आयेगा. वे तीनों ही हंसते-बतियाते और वह अकेली पड़ जाती. नितिन और रंजन कनक की हंसी उड़ाते तो दिनेश उन्हें चुप करा देते. स्नेह का नन्हा-सा अंकुर शायद तभी पनपने लगा था...

और अब कनक न जाने कहां खो गयी थी. भाई-भाभी की सुहागरात का आयोजन करना है और वह किन विचारों में डूब गयी. काश! आज मां जीवित होतीं. न जाने कितनों के मंगलगान किये होंगे उन्होंने और उन्हीं के बेटा-बहू ब्याह की प्रथम रात्रि में अजनबी-से घर के अलग-अलग कोनों में 'मधुयामिनी' के सपने देख रहे हैं. घर में जो ताई-चाची की भीड़ जमा है, यह किसलिए है? सहसा दो बूंद आंसू उसके गाल से ढुलक गये. वह स्वयं भी तो यह अधिकार खो चुकी है.

आज ससुराल में प्रथम दिन जबकि अनुराग की लाली होंठों पर लिये रति को लाज से सिमट जाना चाहिए था, वह यह कौन-सा सोच ले बैठी है. पर इस घर में प्रथम दिन ही मिलती यह उपेक्षा! विद्रूप से होंठ कस लिये रति ने.

दूर के मेहमान दो-चार दिन में विदा हो गये. बुआ अपनी चार बेटियों और इकलौते युवराज के साथ जमी थीं. बृज अभी आयु की वय संधि पर ही था परंतु बुद्धि में अधिक परिपक्व. भाभी की मुंह-जुठाई का नेग करना था. पर वह क्या किसी किशोर वय की मनुहार थी. उसके नेत्र तो किसी प्रखर बुद्धि से परिपूरित थे. भाभी से ठिठोली कर उसे बड़ी तुष्टि मिलती. रंजन के साथ रति का मिलन नहीं हो पाया, इसकी जानकारी भी उसे हो गयी थी.

दूसरी-तीसरी रात रति को नींद नहीं आयी. क्यों हैं ऐसे रंजन? घर में सबसे हंसते-बतियाते हैं, केवल एक वही है अपरिचित, जिसकी छाया से भी दूर हट जाते हैं. शायद संकोच, लज्जा अथवा गुरुजनों का भय हो! तब ठीक है, स्वयं ही कुछ करना होगा. निःशब्द पांव बढ़ाती रंजन के कमरे तक पहुंच गयी थी. फिर अभिसार को निकली नंदलाल बसु की नायिका ज्यों सांप पर पांव पड़ने से चिहुंक उठी हो, रति किसी का स्पर्श अपनी बांह पर पाकर जड़वत हो गयी.

"रुको भाभी, अंदर मामा सो रहे हैं." बृज न जाने कब से उसके पार्श्व में सटा खड़ा था. रति ने क्रोध से होंठ काट लिये. पांवों में असंख्य चींटियों के काटने जैसी पीड़ा का दंश लिये लौट आयी. दो दिन बाद वह पिता के घर चली गयी.

फागुन से आषाढ़, सावन तक पांच महीने बीत गये. अभी तक रति ने कोई पत्र नहीं लिखा. तीज का सिंदारा लेकर महाराज को जाना था. बुआ एक सप्ताह पूर्व ही आ गयी थीं और साथ में लाडले बृज भी. गुझियां, पापड़ी, तली गयीं. जरी की साड़ी, चूड़ी बाबूजी ने पहले ही मंगा दी थीं.

बृज भी महाराज के साथ जायेगा, बुआ ने यह आदेश दिया तो अमला भी मचलने लगी. पर नहीं, लड़कियां भी कहीं समधियाने में जाती हैं! बुआ ने घुड़क दिया. एक पत्र कनक ने विशेष रूप से रति के लिया भेजा था. निश्चय ही शीघ्र चले जाने का आग्रह रहा होगा.

तीसरे दिन ही दो-तीन टोकरे संभाले महाराज वापस चले आये. साथ में कनक के पत्र का उत्तर भी था... 'क्यों वापस आ जाऊं? किसलिए?'... पढ़कर अंतरतम तक कांप गयी थी कनक. रति इतनी मुखरा हो बैठेगी, सो भी अपनी ज्येष्ठा ननद से! वह उसके साहस से भयभीत हो उठी.

रंजन के मस्तक में भी कहीं खंड-खंड चकनाचूर हो रहा है. यह उनके आनन पर फैले निराशा के मेघ देखकर जाना जा सकता है. जब से ब्याह हुआ है, दो-चार नपे तुले शब्द ही बोले होंगे.

स्वीमिंग, राइडिंग सभी शौक तो थे उन्हें. बी.ए. तक कालेज जाते रहे, हर ड्रामा-डिबेट में फर्स्ट प्राइज लेते रहे. नेपाल जाने का प्रोग्राम

भी तो इसीलिए बना था. रंजन का मन नहीं था. मां की मृत्यु हो जाने से उदासी छा गयी थी मन में. पर अमला और कनक के जिद करने पर बाबूजी ने भेज दिया.

दो-तीन सप्ताह ठहरने का प्रोग्राम था. कोई चिट्ठी-पत्री नहीं, एकदम टेलीग्राम मिला था—'रीचिंग सून.'

कनक रसोई में काम कर रही थी, तभी माली ने आकर बताया, "बिटिया, भइया का बिस्तर लगाओ तो जल्दी से.. पांव में लगी है उनके..." कनक बदहवास-सी गेट तक दौड़ गयी. ड्राइवर और महाराज दोनों रंजन को स्ट्रेचर पर लिटाये ला रहे थे. घोड़े से गिरकर फ्रैक्चर हो गया था.

शरीर सूखकर आधा रह गया रंजन का. परंतु जो भयंकर सूचना डाक्टर ने बाबूजी को दी थी, वह उन्होंने किसी से नहीं कही.

कनक के ब्याह से इनकार कर देने से सब आस टूट चुकी थी. अब रही सही कसर रंजन ने पूरी कर दी. उनके ब्याह की चर्चा चली, कई घरों से संबंध आये, परंतु बाबूजी चुप ही रहे. रति के पिता से बचपन का सहज स्नेह था. पत्नी की बीमारी, सीमित आय, अधिक संतान होने से उनकी स्थिति दयनीय हो उठी थी. सो बाबूजी ने स्वयं रंजन के लिए उनकी कन्या का हाथ मांग लिया.

"यह क्या कह रहे हैं आप?" द्विवेदीजी आसमान से गिरे हों ज्यों.

"मैं सच कह रहा हूं. हमारी मित्रता और पक्की हो गयी."

रंजन और रति परस्पर परिणय सूत्र में बंध गये और वास्तविक तथ्य पर पर्दा ही पड़ा रह गया. रंजन उस सबसे परिचित न हो, ऐसा नहीं था, पर एक नगण्य-सा सुख अगर बाबूजी को मिल जाये तो हानि ही क्या! इस प्रकार एक भयानक गलती का सूत्रपात हो गया.

परंतु कनक के लिए तो कोई चूक नहीं हुई थी. रिश्ता भी राय साहब ने स्वयं ही मांगा था. उसकी सास ने स्वयं पसंद किया था.

फिर कहां था संधि मार्ग? कनक को मालूम होता तो उस वितंडावाद से क्यों जुड़ती. कम से कम दिनेश से सामीप्य तो कभी न स्वीकार करती.

उस दिन भोर की बेला में नाइन ने सत्ती के गीत गाये और पांच सुहागिनों ने कनक को दही-हल्दी का स्नान कराया. पंडितजी ने मंत्रोच्चार कर सुपारी और लोहे का छल्ला डाल, कलावा उसके हाथ में बांध दिया.

सांझ को बेटेवालों के यहां से संजोया आना था. सब सजधजकर प्रतीक्षा करती रहीं कि कनक को रंग चढ़ेगा. ढोलक-मजीरे कसकर मामी-चाची दुल्हन को घेरे बैठी थीं कि पंडितजी रिक्शा से उतरकर लटपटाती चाल से आकर बाबूजी के कमरे में घुस गये. साथ में लायी छोटी-सी पोटली मां को थमा दी. सब शंका से एक-दूसरे को देखते रह गये. फिर दबे शब्दों में पंडितजी का बाबूजी से वार्तालाप और बाबूजी की क्रोध भरी हुंकार—'देख लूंगा'—सबको सन्नाटे में डाल गयी. छिटपुट शब्दों में मां ने ही बताया था कि राय साहब ने खूब खरी-खोटी सुनायी हैं. कनक को भी लांछन मिले हैं कि उनके बेटे को उसी ने भरमाया है. ओह, कनक क्या स्वयं गयी थी आगे.

दो दिन बाद फिर एक धमाका हुआ, जिसमें कनक का सर्वस्व ही होम गया. समधीजी ने तुरंत ही बाबूजी को बुलवा भेजा था और जब वे लौटकर आये तो देखकर वास्तव में सबका मन कांप गया.

"क्या हुआ?" मां द्रुत गति से पीछे-पीछे चली आयीं.

"जिसको मन, कर्म, वचन से पति माना हो और उसी का ध्यान हर घड़ी. . .आठों पहर किया हो, फिर उसी को ध्यान में रख धोखे से किसी अन्य को वरण करना पड़े . . . . तब कैसी अनुभूति झेलनी पड़ती है, इसका अनुमान किया है कभी?"

"दिनेश घर छोड़कर चला गया है." एकाएक वज्रपात हुआ. अब कनक का बस, एक ही निर्णय था, "ब्याह नहीं करूंगी."

बिरादरी में कहना-सुनना, मां का उसी दुख में घुलकर बीमार हो जाना, उनकी मृत्यु, सब कुछ कनक न जाने कौन-सी शक्ति से झेलती रही थी! पर अब रंजन के जीवन में भी भूचाल के आसार नजर आने लगे हैं, सोचकर आत्मा कांप जाती है. सब कुछ स्पष्ट हो गया. बाबूजी से विचार-विमर्श करके रति को लिवाने रंजन को ही भेज दिया.

फिर रति ने आकर घर के काम स्वयं ही संभाल लिये. पर्दे-पलंग, बिस्तर की सफाई,बाबूजी का पूजाघर,अमला की स्टडी, सब कुछ. आनेवाले मेहमानों का स्वागत सत्कार. कहीं कोई कमी नहीं. रंजन का भी सब काम स्वयं करती. उसे यों हि कभी बोलते-बतियाते नहीं देखा. पर जब पता चला कि रति का पांव भारी है तो बाबूजी सन्नाटे में आ गये. रंजन के आनन पर तो मौन की कठोर शिला जम गयी थी जैसे. कनक की बुद्धि में कुछ नहीं आ रहा. अमला के जन्म के बाद आज ही तो यह शुभ घड़ी आयी है. बाबूजी का उपेक्षित व्यवहार, रंजन की यह घृणापूर्ण दृष्टि और रति का हर पल भयभीत रहता पीला मुख! और उसका हर घड़ी चौंक उठना. काश! आज मां जीवित होतीं.

सातवें माह साद-पहराई का नेग उसके मायके से आ गया. बुआ स्वयं आ गयी और बाबूजी तटस्थ-मौन हुए सब आवश्यक सामान जुटाते रहे. फिर प्रकृति ने वरदान दिया. भोर के प्रखर प्रकाश में 'हुआं-हुआं' कर एक नन्हीं कली ने अपने आगमन की सूचना दी. मातृत्व सार्थक हुआ. ममता से अंक में समेट लिया रति ने. उधर विष वृक्ष समस्त शक्ति से अपनी जड़े जमा चुका था. बिटिया बिलकुल रंजन पर गयी थी. परंतु रति का निरंतर बदलता व्यवहार सबको सकते में डाल रहा था.

रति केवल भय खाती थी तो अमला से. मुंहफट लड़की है, न जाने कब कलई उतारकर रख दे. फिर सौर बहस्नान कर चुकी तो रसोई-चौके का सब निषेध समाप्त हो गया. बुआ ने बृज को बुला भेजा. उन्हें अब वापस भी जाना था. रति सब काम यथावत करने लगी थी. दही-भात की थाली परोस बृज को देने जा रही थी कि रंजन ने टोक दिया "किसके लिए जा रहा है ये सब?"

"ओहो! तो अब छैलाजी को भी गुस्सा आने लगा." कहकर एक किनारे से जाने लगी कि छन. . . छन्न. . . थाली लुढ़कती हुई आंगन तक चली गयी. रंजन ने लात-मारकर थाली फेंक दी और ताबड़तोड़ लात-मुक्कों से रति को मारता ही रहा. सब सकते में आ गये. पर वह क्या चुप बैठनेवाली थी, बिफरी शेरनी-सी बाल बिखेरे उलटकर रंजन की बांह पर काट लिया. नाखूनों से मुंह-माथा नोंच डाला, कपड़े फाड़कर तार-तार कर दिये. भयंकर प्रलयकारी दृश्य था. नन्हीं 'हुआं-हुआं' कर रो रही थी. सब हतप्रभ रह गये थे.

कनक से नींद कोसों दूर रहती और कभी-कभी अमला भी करवट बदलते रात बिता देती.

"दीदी, जरा सुनो न, भाभी के कमरे में कोई . . ."

"अरी भैया होंगे."

"नहीं दीदी, भैया नहीं है. बृज गया है उधर . . .देख लो जाकर."

सचमुच, बुआ बेखबर सोयी थी और बृज का बिस्तर खाली था. कनक को काटो तो खून नहीं. क्या रति इतनी व्यभिचारिणी है?

ठीक है, आज इस कलंकिनी का चेहरा उघाड़कर ही छोड़ूंगी. फिर निःशब्द पांव रखती आंगन पार कर बरामदे तक चली गयी. परंतु अंधेरे में जो छाया दीख पड़ी तो कनक के हाथ-पांव जड़ हो गये. ये बाबूजी थे.

"तुम कुछ नहीं कहना बेटी, आगे मत जाना." उनके स्वर की दयनीयता उसे आश्चर्य मे डाल गयी मानो आकाश से गिरी हो.

"ये आप कह रहे हैं बाबूजी?. . . आपको सब कुछ मालूम है. . .?"

"बस, आगे कुछ नहीं पूछना कनक. . ." उनके स्वर की गिड़गिड़ाहट से उसे बहुत खिजलाहट हो रही थी. वह क्रोध से पांव पटकती वापस चली आयी.

दो-चार दिन और यह रासलीला चलती कि बुआजी की बेटी का पत्र आ गया. सो तुरंत वे अपने लाडले को लेकर विदा हो गयीं. रति के अलावा सबने चैन की सांस ली.

रति का मन फिर गिरने लगा. पेट पकड़कर नाली पर कै करती. फिर स्वंय ही सौंफ-सुपारी फांक बिस्तर पर लेट जाती. कोई सुध नहीं लेता. सब घृणा से मुंह फेर लेते पर उसे किसी की परवाह भी कहा! और भी निडर होकर नौकर-महाराज पर हुक्म चलाती. डांट-डपटकर उन्हें तंग करने में न जाने कितना सुख मिलता था उसे.

इस बार नर्सिंग होम में जाने की व्यवस्था नहीं की गयी थी. मिडवाइफ बुलाकर घर के कोने की कोठरी में ही डिलीवरी का प्रबंध किया गया था. पुनः एक कन्या को जन्म दिया. किसी को हर्ष-विषाद कुछ भी नहीं हुआ. नन्हीं कोमल गुलाब की कली-सी सुंदर थी. सृष्टि कर्ता ने हाथ पसारकर रूप दिया था. परंतु अबकी बार रति का रूप बदला हुआ था. दूसरी बेटी हो जाने के दुख की अम्लान छाया उसके चेहरे पर डोल रही थी.

कुछ दिन फिर चुप्पी छायी रही. सारे घर से उपेक्षित वह एक कोने में पड़ी रहती. खाने के समय निर्लज्ज बनी टेबल पर आकर भोजन कर जाती. दूध-चाय नौकरों से सब अपने कमरे में ही मंगा लेती. तभी एक दिन बृज फिर अटैची उठाये आ धमका. वह बिन बुलाया पाहुना क्या किसी को सुहानेवाला था. दृष्टि उठाकर भी नहीं देखा किसी ने. चुपचाप रति के कमरे में चला गया. आधा-पौना घंटा न जाने क्या मंत्रणा चलती रही.

"मामाजी, आप सब भाभी को इतना कष्ट क्यों दे रहे हैं?" वह सीधा बाबूजी से ही प्रश्न कर रहा था.

"तुम ये सब अधिकार कब से रखने लगे?"

"क्योंकि रति ने मुझसे सहायता मांगी है."

"अच्छा, तो क्या करेगी वह. . . ?"

"वह. वह. . .मेरे साथ जाना चाहती है!" स्वर में कंपन था.

"परंतु कहां ले जाओगे उसे?" बाबूजी अभी तक सब कुछ परिहास में ले रहे थे.

"कहीं भी . . . एक छोटा-सा मकान ले लूंगा किराये पर . . ."

बाबूजी सकते में आ गये. स्थिति उतनी सरल नहीं है जितनी कि वे समझ रहे थे. यह कुल-कलंकी तो उनके घर को ले डूबने को तत्पर है. अब क्या उपाय . . . ? ओह, एक गल्ती की इतनी बड़ी सजा.

"तो ठीक है, ले जाओ." इतनी सरलता से सब हो गया. बृज को ही नहीं . . . उन्हें स्वयं भी आश्चर्य हो रहा था, "जाओ . . . अब."

"आओ देवरजी, जब ओखली में सिर दिया तो मूसलों से डरना!" हाथ पकड़कर कमरे में ले गयी. वह कटे वृक्ष-सा कमरे में गिर पड़ा आनेवाले भविष्य से आतंकित होकर.

"क्या सोच रहे हो?"

"कुछ नहीं." मन में मेघ घुमड़ रहे थे. रूखे स्वर में कठोर उत्तर सुनकर रति के हृदय में बर्छियां चल रही थीं. परंतु अब नहीं, अब तो सब कुछ झेलते चले जाना है. अब अधिक विलंब करने से क्या लाभ. लोक दिखावा, हूं . . . वही तो ले डूबा. इस घर को! . . . दोनों बच्चियां जब बड़ी होंगी और जब सुनेंगी अपनी ही जननी की कलंक गाथा . . . तब . . . ! परंतु एक बार निर्णय लेकर हट जाना भी तो उसके स्वभाव में नहीं है. फिर इन बच्चियों के भविष्य पर कलंक न लग जाये इसीलिए तो पति, पिता और अन्य संबंधियों से विच्छिन्न होकर ही जीवन बिताने का निर्णय लिया है.

छोटी-सी अटैची में दो-चार कपड़े समेट लिये. अन्य किसी को मालूम नहीं हुआ. बृज जब बाबूजी से बात कर रहा था तभी कनक ने सुना तो हतप्रभ रह गयी.

कनक जिस तीव्र चाल से आयी थी उसी प्रकार जाने लगी, पर रति पत्थर की शिला-सी उसका मार्ग रोके खड़ी थी. कनक उसे परे धकेलकर निकल जाना चाहती थी.

"केवल देखकर घृणा करके चली मत जाओ ननदजी! बस, एक प्रश्न का उत्तर देती जाओ . . ." रति बलपूर्वक कनक के हाथ पकड़ रोके रही. परंतु कनक के बोल नहीं फूटे.

"डरो मत, तुम्हें दोष नहीं दे रही. बस, समाधान चाहती हूं."

"पूछो, क्या पूछना है?"

"जिसको मन, कर्म, वचन से पति माना हो और उसी का ध्यान हर घड़ी. . .आठों पहर किया हो, फिर उसी को ध्यान में रख धोखे से किसी अन्य को वरण करना पड़े विवश होकर . . . तब कैसी व्यथा कैसी अनुभूति को झेलना पड़ता है, इसका अनुमान भी किया है कभी?"

". . ." कनक मुंह से बोल नहीं फूटे.

"अब तुम जो चाहो करो . . . पर दुनिया को तमाशा न दिखाओ."

"तमाशा! हुंह! तमाशा दिखाकर ही तो मुझे सारे सुखों की गठरी मिलनेवाली है न! खैर, अब आप अपनी गठरी संभालो." कहकर आभूषणों का डिब्बा बाबूजी के सामने पटक दिया. एक-एक कर कंगन, कड़े, अंगूठी इधर-उधर बिखर गये. देखकर बाबूजी स्तंभित हो उठे.

"ये सब तो वापस नहीं मांगा था बहू."

"तो दिया भी कौन-सा गहना था कि जिसके बिना मरी जा रही हूं." फिर एक झटके से उठकर खड़ी हो गयी. अटैची उठा चलने को उद्यत हुई कि बृज ने कांपते स्वर में पूछा, "बच्चों से नहीं मिलोगी?"

"नहीं. . . ई. . . मैं कहती हूं चलो अब." क्रोधित स्वर में ऊंचा बोल गयी.

उस दिन पापा से झड़प हो जाने के बाद दिनेश अपना छोटा-सा अटैची केस थामे पोस्ट आफिस तक आये. कुछ पत्र डाक में छोड़े और फिर एक तांगे में बैठकर स्टेशन चलने का आदेश दिया.

साईस का चेहरा देखकर कुछ पहचाना-सा लगा, परंतु कहां देखा है, कुछ याद नहीं आया. फिर सब कुछ अंधकार में गडमड होता प्रतीत हो रहा था.

बहुत कठिनाई से नेत्र उघाड़कर देखा, सुबह का सूरज नेत्रों को चौंधा रहा था.

"धीरे-धीरे होश आ रहा है. . हां पर अभी काफी कमजोर है. . ." दो चार भिन-भिन करते स्वर. माथे में भयंकर पीड़ा ज्यों हथोड़े बज रहे हों. एक-दो पहचाने चेहरे. . . . .

"कहिए सुपरिंटेंडेंट साहब, अब क्या हाल है. . .?" यह कंवल थे दिनेश के मित्र.

"ऐं. . . कंवल तुम?. . ." दिनेश ने तमक कर सामने देखा, वह व्यंग्य से होंठ टेढ़े कर मुस्करा रहा था.

फिर न जाने कितने सप्ताह-माह यूं ही बीत गये. दिनेश कुछ चलने-फिरने योग्य हुए सामने दूर तक फैली हरियाली, किसानों की तिक-तिक, बैलों के गले में बंधी घंटियों के स्वर दूर से सुन पड़ते तो किसी बस्ती

के पास होने का आभास होता परंतु चौकीदार की चौकन्नी दृष्टि हर समय उन्हीं पर टिकी रहती. पास के कमरे में रात आधी रात आनेवाले स्वर जैसे किसी विषय को लेकर बहस, गर्मा-गर्मी कुछ मंत्रणा! पर सही स्थिति का ज्ञान नहीं कि कहां है. यद्यपि उन्हें ऐसे में भी पुरसुकून नींद आती. समाचार पत्र पढ़ने को मिल जाता था.

उस दिन मां के चित्र के साथ जो संदेश पढ़ा तो मन हाहाकार कर उठा. मन किया पलभर में ही पहुंच जाये. न जाने कितनी देर स्वप्ना-अवस्था में पड़े रहे.

"काहे बिटवा रोवत काहे!" बूढ़ा चौकीदार बांह पकड़ हिला रहा था. आंसू उनके गालों पर ढुलक आये थे. तभी सामने देखा, धूल-धूसरित हाथ-पांव, रूखा चेहरा लिये कंवल आ रहे थे.

दो-तीन दिन दोनों योजना बनाते रहे. दो-चार अन्य साथी भी पहुंच गये. बम बनाना, हथगोला फेंकना, पिस्तौल-बंदूक, घुड़सवारी का प्रशिक्षण, एक-दो स्त्रियां भी थीं. दीखने में सीधी-सादी परंतु चुस्त, चालाक, फुर्तीली. . . .दिनेश ने पुलिस की नौकरी में सब ट्रेनिंग ली हुई थी. सो उन्हें अपने ही नगर में जाकर जो क्रांतिकारी वहां की जेलों में बंद थे उन्हें रिहा कराने का काम सौंपा गया था.

फिर एक अंधेरी रात में काले कंबल में लिपटे किसी प्रकार नगर कोतवाली तक पहुंचने को निकल पड़े कि उन बंदियों की टोह ले सकें. उसी राह में उनका अपना घर भी आता है, सो मम्मी-पापा से मिलने का लोभ संवरण करना उन्हें कठिन पड़ रहा है. टामी का उनकी गंध पाकर भौंक उठना और पापा का 'स्टाप टामी' कहकर उसे शांत कर देना, उन्हें निश्चित कर देता, पर न जाने पापा को क्या हो गया है. बरामदे में चक्कर लगाते अंधेरे में दूर से जलती उनकी सिगार की लाल चमक कई बार देखते हैं दिनेश.

दो-तीन दिन बाद इस क्रम में बाधा पड़ी. ज्यों ही स्वयं को ढंक-मूंदकर सड़क पर आये कि किसी ने मार्ग छेंक दिया.

"ठहरो दिनेश, उस ओर नहीं जाना." स्वर परिचित थे.

"आ. . . . आप. . . .पापा!" हथेली पिस्तौल पर कस उठी.

"हां, मैं . . . पर तुम गोरी सरकार की आंख में धूल झोंक सके हो ऐसा कैसे समझ बैठे?"

"लेकिन पापा?"

"लेकिन-वेकिन कुछ नहीं. . . क्या तुम चाहते हो कि इस उम्र में भी मैं काल-कोठरी में डाल दिया जाऊं?"

"नहीं-नहीं, काल कोठरी. . . नहीं, आप चाहें तो वफादारी का सबूत दे सकते हैं. . . मैं प्रस्तुत हूं." कहकर दोनों हाथ बढ़ा दिये.

"तुमसे आज्ञा नहीं लेनी होगी दिनेश." कहते-कहते गला भर्रा गया. दिनेश का हृदय टूक-टूक हो उठा. . . .

"मैं तो . . . पापा, केवल एक बार मां को. . . कनक को. . . "

"ओह दिनेश, वह सब सही है, पर तुम इतने मूर्ख हो यह मुझे नहीं मालूम था. देखो जो बीच राह में डगमगाते हैं वह देश और समाज दोनों के लिए खतरा हो जाते हैं. . . आई से गेट अवे फ्राम हियर. . .गो. . ओ." उत्तेजित स्वर में बोलते वे अंतरध्यान हो गये.

बाबूजी से विदा लेकर जब अपनी गली की ओर वापस आ रहे थे तो दिनेश को आभास हुआ कि कोई निरंतर उनका पीछा कर रहा है.

> "पर तुम इतने मूर्ख हो, यह मुझे नहीं मालूम था. देखो, जो बीच राह में डगमगाते हैं, वह देश और समाज दोनों के लिए खतरा हो जाते हैं . . . . अ.ई से, गेट अवे फ्राम हियर. . . . . . गो...ओ!"

रात गहरी अंधेरी थी, सो पहचान नहीं पाये. फिर पास ही एक मोड़ आने पर वे गली में विलीन हो गये. पास के घर में पतनाला टूट जाने से पानी झर-झरकर वेग से बह रहा था, उसी के शोर का लाभ उठाकर वे टूटी दीवार लांघकर दूसरी ओर छलांग लगा गये. पीछा करनेवाला तीव्र गति से आगे निकल गया. बहुत देर तक सांस रोके उकड़ूं बैठे रहे.

"कौन. . . कौन है?" किसी नारी का ऊंघता हुआ स्वर सुन वे तंद्रा से चौंके.

क्या उत्तर दें, न जाने किस रूप में ले. कहीं अजनबी समझ कर शोर न मचा दे. कपड़ों की सरसराहट हुई और द्वार खुल गया. चीते जैसी फुर्ती से उछलकर दिनेश ने अंदर कमरे में छलांग लगा दी. उस स्त्री को पीछे खींचकर द्वार बंद कर पलभर में अपनी चौड़ी हथेली उसके मुंह पर रख दी. वह बार-बार स्वयं को छुड़ाने का प्रयास कर रही थी.

"डरिए नहीं, मैं आपको कोई हानि नहीं पहुंचाऊंगा. बस, शोर नहीं कीजिए." छोटी-सी पिस्तौल की नली तब तक उसके माथे का निशाना साध चुकी थी. स्त्री के माथे पर उस भयानक शीत में भी पसीने की बूंदें चुहचुहा आयीं. सहसा जब उसके नेत्रों में आंसू भरभरा उठे तो दिनेश ने हाथ हटा लिये.

टन्न, टन्न, कहीं से चार का घंटा बजा. ओह, बहुत समय हो गया पर इसने तो करवट भी नहीं बदली. ऐसे सो रहा है जैसे इसकी मां का घर हो. न जाने कब से सुख का बिस्तर नसीब नहीं हुआ. आजादी के ये दीवाने घर-द्वार त्याग सिर पर कफन बांधे निकल पड़े हैं. फिर उसने उनकी बांह पकड़कर झकझोर दी. नींद में कसमसाये और फिर सो गये. भोर का तारा डूबने से पूर्व ही उन्हें अपनी कोठरी पर पहुंच जाना चाहिए.

एक सप्ताह भी नहीं बीता था कि अहिंसावादियों का एक दल नारे-लगाता शहर में कलक्टर के बंगले पर पहुंचा. 'सविनय आंदोलन' के बल पर वे अपने साथियों की रिहाई की मांग करने गये थे. स्त्रियां अपने नवजात शिशुओं को गोद में लिये थीं, शायद उनके पिता, भाई या पति बंदी बना लिये गये थे. दिनेश सादे वस्त्रों में भीड़ का एक हिस्सा बन गये.

अंग्रेज कलक्टर घोड़े पर चढ़कर आयेगा और भीड़ को तितर-बितर करने का आदेश देगा. फिर सविनय आंदोलन के नियमों के अनुसार सड़क पर लेटकर उसके आगे बढ़ने का मार्ग अवरुद्ध कर दिया जायेगा. दिनेश को आज्ञा मिली थी कि मौका देखकर उसे गोली मार दें. भले ही मन से वह इसके लिए तैयार नहीं.

परंतु यह योजना पूरी नहीं हो सकी. न जाने किसने मूर्खतावश अथवा जानबूझ कर व्याघात किया. एक पत्थर उसके सुनहरी कमानीदार चश्मे को चूरचूर कर गया. कलक्टर के मुड़कर भागते ही उसके काले अनुचरों ने 'मारो, पकड़ो, लाठी, पिस्तौल', उस भेड़ बकरी से भागते जनसमूह पर प्रारंभ किया तो भयंकर आपाधापी मच गयी. बच्चे, बूढ़े, महिलाएं, सबको पकड़कर ट्रक में भरना शुरू कर दिया. ओह!, वे अहिंसावादी नहीं हैं परंतु उनकी जेब में तो पिस्तौल पड़ी है. सो, तुरंत ही पास की नली में फेंक दी. यद्यपि हथियारों की रक्षा तो प्राण हथेली पर रखकर भी करनी होती थी, पर अब नहीं. धूल से पनियाई आंखों से उन्होंने देखा कि धूल-कीचड़ में सना कनक का शरीर भीड़ के पैरों तले कुचला जा रहा है. तभी पुलिस का एक डंडा उसकी कमर पर लगा और वह वहीं ढेर हो गयी.

हांफते-हांफते वे जंगल में अपने डेरे की ओर दौड़ गये. लहूलुहान पांव. . . कुहनी और माथे पर लगी खरोंचें. पर न जाने कब नींद से पलकें मुंद गयी थीं. नींद में कनक का रोता-बिलखता मुंह देख रहे थे, लाठी का प्रहार उसके माथे पर हुआ था, रक्त-सना चेहरा उठा मानो वह आर्त्तदृष्टि से उन्हें निहार रही थी. . . ."नींद में डर गया! ऊंह चला था क्रांतिकारी बनने. . . .!" उनके माथे पर किसी ने हाथ फिराया. फिर दृष्टि उठाने पर देखा. . . अरे. . . . ये चेहरा . . . ये चेहरा तो कहीं देखा है. प्रकाश सीधा उनके मुंह पर नहीं पड़ रहा. अरे ये तो वही स्त्री है. . . कौन हो तुम? यहां कैसे?. . . सहसा खड़े हो गये. . . .

"अब चुपचाप मेरे पीछे-पीछे चले आओ. . ." अन्य लोगों को भी आदेश दिया गया. स्वर कठोर था.

कनक को अब अधिक काम नहीं रहता. अमला का ब्याह करके दोनों बच्चियों को हॉस्टल में भेज दिया गया. रति के घर से चले जाने से चारों ओर शांति व्याप्त हो उठी. बच्चियों ने मां को याद किया था बहुत दिन तक. निरीह स्वर में उन्हें रोते देख कनक के नेत्र भर आते. पर नहीं, जो हुआ ठीक हुआ.

तभी उस दिन समाचारपत्र कनक को थमा, रंजन वहां से खिसक गये. मुख पृष्ठ पर ही दिनेश तथा कंवल दोनों की ही फोटो छपी थी. एक दो अन्य साथियों के भी थे—'जीवित या मृत पकड़कर सरकार को सौंप देने पर ईनाम'. . .आदि आदि!

कनक के हाथों से पत्र छूट गया. माथा पकड़कर धरती पर बैठ गयी. ओह! यह क्या किया! कुछ अनहोनी दिनेश के साथ हो रही है, एसा सोचा तो था, परंतु इतना दुरूह इतना भीषण मार्ग चुन लिया.

फिर स्वतः कनक ने यह निर्णय ले लिया था कि वह भी उसी राह पर चल पड़ेगी जिधर दिनेश ने कदम बढ़ा दिये हैं.

परंतु विधाता को जाने क्या मंजूर था. 'सविनय आंदोलन' में भाग लेने गयी थी और पुलिस की लाठी के प्रहार से वहीं ढेर हो गयी. फिर होश आया तो स्वयं को जेल के सीखचों में बंद पाया. दिनेश पर एक पल को दृष्टि पड़ी थी कि न जाने फिर भीड़ में वे कहां खो गये.

कनक को तीन महीने की बामशक्कत कैद हुई थी. रिहाई के समय घरवालों तक सूचना नहीं पहुंच सकी. किराये के चंद सिक्के उन शासकों ने उन्हें थमा दिये थे. उस अनजाने शहर के छोटे-से स्टेशन पर वह ट्रेन की प्रतीक्षा कर रही थी कि सहसा चिहुंक कर पीछे हट गयी. देखा, सामने से रति काला बुर्का पहने किसी दाढ़ीधारी पुरुष की बांह थामे आ रही है. हवा के झोंके से बुर्के की नकाब उलट गयी थी और कनक से उसकी आंखें चार हो गयीं. पलक झपकते होंठों पर उंगली रखकर उसने कनक को मुंह खोलने से बरज दिया. हतबुद्धि हुई कनक उसका आशय नहीं समझ सकी.

गाड़ी पूर्ण वेग से भागी जा रही थी. यात्री नींद के झोंके ले रहे थे पर कनक को नींद कहां. सहसा किसी ने कागज की एक पुड़िया कनक के पांवों के नीचे सरका दी और तब तो उसके आश्चर्य की

सीमा न रही, जब अंधा गायक संकेत से उन्हें कुछ समझा, चलती गाड़ी से उतर अंधकार में लुप्त हो गया. और उससे भी बड़ा आश्चर्य हुआ उस कागज को पढ़कर. लिखा था—'बोर मत होना. बाथरूम में इंतजार कर रही हूं, तुरंत चली आओ.'

पत्र पढ़कर कनक भयभीत हो उठीं. उस ठंडी रात में भी पसीने पसीने हो गयी. परंतु रति से मिलने की उत्सुकता दबा पाना भी क्या सहज बात थी. फिर बाथरूम के द्वार पर जाकर हौले-से हाथ रखा तो तुरंत खुल गया. रति ने कनक को अंदर लेकर तुरंत चिटखनी चढ़ा ली. ओह, यह कैसी कंकालवत काया लिये खड़ी है.

"किस सोच में हो ननदजी! यहां अकेली किसकी राह देख रही थी?" फुसफुसाकर रति ने पूछा.

"अं . . .हां . . राह किसकी देखूंगी भला, पर तुम यह कैसा वेश बनाये घूम रही हो? किसके साथ थी भला?"

"ना गुस्सा मत करना. साथ में थे मेरे शौहर. . .मिलोगी?"

"चुप!. . . बेशर्मी की भी हद होती है!"

"लो हो जाती हूं चुप, पर खुद ही घाटे में रहोगी. प्यार से बात करोगी तो ननदोईजी से मिलवा सकते हैं. . .कहो तो हनीमून करा दें!"

"ऐं. . . क्या बक रही हो?"

"और लो, मन मन भावे मूड़ हिलावे!" वह तिरछे कटाक्ष करती बाहर चली गयी.

कनक को हृदय की धड़कन संभालनी भारी पड़ रही थी.

"डरो नहीं कनक. . . मैं हूं." दिनेश को स्वर से ही पहचाना वरना बढ़ी हुई दाढ़ी-मूंछों पर रंग की परतें जमा ली गयी थीं. सो पहचान पाना कठिन था. वही रति का हाथ थामे स्टेशन पर जा रहे थे. न जाने कितनी देर तक अवश हुई कनक उनकी छाती में मुंह गड़ाये बेसुध खड़ी रही.

"वह स्त्री जो तुम्हें यहां पहुंचा गयी है. . . कैसे जानती है?" कनक ने पूछा.

"कौन?. . . ओह, तुम उनकी यानी नंबर. . ?"

"नंबर एक . . .क्या मतलब?"

"अरे भई, वह हमारे दल की मुखिया है. . . सीनियर मेंबर. प्रत्येक गतिविधि इन्हीं की आज्ञा पर चलती है. . . और बंदा जो जीता-जागता तुम्हारे सामने खड़ा है, वह भी इन्हीं की कृपा से. . . ."

"ओह, यह कैसे हुआ?"

"कैसे क्या?. . . . न जाने कितनी बार पुलिस के हाथों बच निकला हूं. इनकी तो मिसाल ही नहीं. अपना सब कुछ देश के लिए दांव पर लगाकर कुर्बान हो जाना क्या मामूली बात है!"

"क्या तुम्हें मालूम है . . .यह स्त्री रंजन की बहू है."

"क्या कह रही हो. . . ?" अब चौंकने की बारी दिनेश की थी.

"यह एक लंबी कहानी है. अच्छा अब आगे क्या प्रोग्राम है?"

"प्रोग्राम तो उन्होंने अभी नहीं दिया. . .हां, तुमसे मिलकर दल के लिए काम करने को कहूं, ऐसा आदेश दे गयी हैं."

"दे गयीं. . . यानी. . . "

"यानी क्या? . . अरे भई, वे तो कोसों पीछे रह गयीं. तुमने ध्यान नहीं दिया गाड़ी धीमी हुई थी. ये गार्ड-ड्राइवर सब अपने ही तो हैं. . ." सहसा वे चुप हो गये. दल का भेद खोलना वर्जित था. तभी पुनः ट्रेन धीमी हुई, कनक का हाथ थामे द्वार खोले वे उबड़-खाबड़ धरती पर कूद गये.

फिर यायावर जीवन आरंभ हुआ. दिन भर किसी ग्रामीण के घर ईख के खेतों में या बाग में छुपे रहते, रात भर चलते रहना होता. दल के सब साथी बिछुड़ गये. कुछ पुलिस द्वारा मारे गये, कुछ ने स्वयं ही आत्मघात कर लिया. इस लुका-छिपी के जीवन से त्रस्त हो गये दिनेश. कई-कई दिन अन्न नसीब नहीं होता. . .एक कच्ची कोठरी में पुआल बिछाकर पड़े रहते. रति अन्य साथियों की टोह लेने भी जाती थी. पुलिस-थाना सबसे संपर्क रहता था उसका. सिगरेट शराब, गांजा, सब कुछ और

मेरा मृत्युंजय

वीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य

मृत्युंजय की कथावस्तु है 1942 का विद्रोह. 'भारत छोड़ो' आंदोलन का असम क्षेत्रीय घटना-चित्र और इसके विभिन्न अंगों के साथ जुड़ा-बंधा अन्य वह सब जो रचना को प्राणवत्ता देता है, समृद्ध सहज मानवीय भावनाओं के चिरद्वंद्वों की अकूत छवियों द्वारा.

कथानक आधारित है वहां की सामान्यतम जनता के उस विद्रोह की लपटों को अपने से लिपटा लेने पर, और कैसा भी उद्‌गार मुंह से निकले बिना प्राण होम कर उसे सफल बनाने पर. घटना के छब्बीस वर्ष बाद यह उपन्यास मैंने लिखा. उस समय की वह आग ठंडी पड़ चुकी थी, पर उसकी आत्मा, उसका यथार्थ अब भी सांसें ले रहे थे. उपन्यास में विद्रोह लिप्त जनता के मानस का, उसकी विभिन्न ऊहापोहों का चित्रण किया गया है. सबसे बड़ी समस्या उस भोले जनमानस के आगे यह थी कि गांधीजी के अहिंसावादी मार्ग से हटकर हिंसा की नीति को कैसे अपनायें; और सबसे बड़ा प्रश्न यह था कि इतनी-इतनी हिंसा और रक्तपात के बाद का मानव क्या यथार्थ मानव होगा?

यह प्रश्न शायद आज भी ज्यों का त्यों, वहां का वहां खड़ा है. □

[मृत्युंजय के प्रकाशन के समय लिखे गये आमुख से]

सरकारी फाइल में उसके लिए एक ही शब्द था—'वेश्या'.

उस दिन भी थाने पर दारोगा जी की मेहमान बनकर गयी थी. अभी मजलिस जमी नहीं थी. एक-दो पैग लेकर दरोगाजी अपनी करनी पर आने को हुए कि हवालात में किसी के आर्त्त स्वर में चीखने के स्वर आने लगे.

रति स्वयं पर काबू नहीं रख सकी. दारोगाजी का हाथ झटक, हवालात की कोठरी तक दौड़ पड़ी. धीमे लाल्टेन के प्रकाश में जो कुछ देखा वह बहुत लोमहर्षक था—कंवल को धरती पर एकदम औंधा लिटाकर उनकी कमर पर कांटे रखकर बेंत से प्रहार किये जा रहे थे.

"धांय! ...धांय! ..."रति के हाथ की पिस्तौल गरज उठी. दो सिपाही वहीं लोट-पोट हो गये. उसने द्वार खोलकर कंवल को मुक्त कर दिया. नशे में लड़खड़ाता दरोगा हक्का-बक्का खड़ा रहकर हरकत में आ गया. "ओह, . . . यह औरत! . . ." उसकी पिस्तौल रति के माथे की सीध में तन गयी. रति भरभराकर मिट्टी के ढेर-सी लुढ़क गयी.

दूसरे दिन भोर के उजाले में कनक और दिनेश बेड़ियों में जकड़े जब थाने लाये गये, तभी देखा, रति का क्षत-विक्षत शरीर थाने में द्वार पर जनता के प्रदर्शन के लिए रखा था. उसकी खुली आंखों की पुतलियां ठहरकर भविष्य की ओर इंगित कर रही थीं. रंजन का फूट-फूट कर रोना, कनक और दिनेश की यातनाओं का प्रारंभ घोर कारावास. . . . कालापानी. . . क्रांतिकारी दल की यही तो परिणति हुई थी. . . और कौन-सी भूमिका थी उसमें. 'रति' नाम की उस 'चरित्रहीन' स्त्री की? □

● 2966, राधानिवास, 4 क्रास, 13 मेन, इंदिरा नगर, बंगलौर

(संपूर्ण उपन्यास वातायन प्रकाशन, 73 बनारसीदास एस्टेट, लखनऊ रोड, दिल्ली-7 द्वारा प्रकाशित)

पखवारे की पुस्तक

जिंदगी के मूल्यों और श्रेयों की बात

—चंद्रकांत बांदिवडेकर

□ कव्वे और काला पानी (कहानी संग्रह): निर्मल वर्मा; प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन, 8 नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली, 110002; मूल्य : 28 रुपये

'कव्वे और काला पानी' निर्मल की सात कहानियों का संग्रह है. वैसे कहानियों को सरसरी निगाह से देखकर और यह कहकर कि वह निर्मल का चिरपरिचित इलाका है, टाला या हटाया जा सकता है. अकेलेपन, जिंदगी की नीरसता की शुष्क स्थितियां, ऊब, थकान, जिंदगी की प्राणवत्ता का हाथ से खिसककर बच गया रिक्त या शून्य, प्रेम के स्रोत को उपेक्षित कर देने पर शेष रहे रेगिस्तान की तपी बालू का व्यूह, अकेले, एकांत द्वीप में बैठकर जीने को बाध्य व्यक्ति की वेदना का ताप, मनुष्य और मनुष्य के बीच के संबंधों का अनुर्वर, निर्जल सपाट मैदान, मानसिक पाप और अपराध बोध की सूक्ष्म कचोट, आदि-आदि संसार यहां भी है. और यह ऊपर से देखने पर अविश्वसनीय सा लगने वाला ठोस तर्क और कार्य-कारण भाव की पकड़ में न आने वाला कुहरिल संवेदनात्मक तंतुजाल और दुर्बोध मनस्थितियों का छवि-जाल यहां भी है. लेकिन यह सब निर्मल की कथा का गहरे में जाकर मनन न करनेवालों के लिए है. हिंदी कथा साहित्य को अप्रतिम संवेदना और पृथगात्मजीवनानुभव से जिन इने-गिने रचनाकारों ने समृद्ध किया है, उनमें निर्मल बहुत ऊपर है. और ऐसी स्थिति में उनकी एक-एक कहानी गहरी तल्लीनता और एकाग्रता से पुनः-पुनः पढ़ने की मांग करती है. असल में हर कहानी की कलात्मक बारीकियां जिस चित्र को उभारती हैं, उसका पूरा आकलन करने के लिए स्वतंत्र निबंध लिखने की आवश्यकता है. कुछ ऐसी स्थिति है कि जिस प्रकार भारतीय शिल्पकार सूक्ष्म चित्राकृतियों से भव्य चित्र प्रस्तुत करता है और दृष्टि बारीकियों पर जमी रहे तो चित्र की भव्यता नजरंदाज होती है. और अगर भव्य चित्र को देखो जाये तो बारीकियों का समवेत प्रभाव में योगदान कुछ उपेक्षित हो जाता है.

निर्मल की शैली के भी कुछ सामान्य वैशिष्ट्य रेखांकित किये जा सकते हैं. उनकी कहानी का अनुभव काल और अवकाश के गहरे मान पर खड़ा रहता है. परंतु दोनों को अतिक्रमित कर मनुष्य के हृदय की कुछ शाश्वत भावावस्थाएं पकड़ने का निर्मल प्रयत्न करते हैं. स्थान और काल के सूक्ष्म चित्रांकन के माध्यम से गहरे और सूक्ष्म जीवनानुभव की ओर इंगित करनेवाले विरल लेखकों में से निर्मल एक हैं. जून से लेकर मई तक हर महीने की सुबहें, दोपहरियां, शामें, रातें उनके सामने चित्रवत आती हैं. धूल, बादल, वर्षा, धूप गर्मी, सर्दी, नमी, शुष्कपन सबका संवेदन विलक्षण तीव्र रूप में बढ़ाते हैं. और ये सब अपना-अपना व्यक्तित्व लेकर निर्मल की कहानी में उपस्थित रहते हैं. धूल, बादल, वर्षा, धूप और उनके रंग और रूप चित्रवत आकर निर्मल की कहानी को पुष्ट करते हैं. इनका चित्रण प्रतीकात्मक नहीं होता, न अनुभव को अतिरिक्त नाट्यमय बनाने के लिए होता है—ये सारी चीजें उनकी कहानी के लिए शरीर का अंग-प्रत्यंग होती हैं—इनको काटकर कहानी लुंज-पुंज हो सकती है.

कहानी को बुनते समय निर्मल बीच-बीच में ऐसे प्रतीकात्मक प्रयोग करते हैं कि सारे आशयों को मानो इकट्ठाकर प्रतीक को सघन और हृदयस्पर्शी बना देते हैं. जैसे—"मैं बर्फ की शिला पर लेटा हुआ उन्हें देख रहा हूं या वे ऊपर से झुककर मुझे निहार रहे हैं. . ." या "मुषाली के बादल यहां आते हैं. आगे नहीं जाते. . . जैसे यह दुनिया का अंतिम छोर हो—मृतआत्माओं और कव्वों का प्रदेश." या "लेकिन घुटने पर रखा उनका हाथ? उसमें बीता हुआ घर था. और समूचा जमा हुआ अतीत—जो जरा-सा छूने पर बूंद-बूंद बहने लगता है." ऐसे स्थल बार-बार आते हैं, जिसमें कथा के अधिकांश भावानुभवों को पुंजीभूत किया गया हो और ये जैसे अनुभव के आकलन की कुंजियां भी हों. निर्मल अनुभव को बयान नहीं करते, सूचित करते हैं. धीरे-धीरे उसका आकार मूर्त होता जाता है, परिणामतः कहानी में, भावानुभव की अभिव्यक्ति में एक, रहस्य कथा का-सा माहौल पैदा होता है जो पाठक की सहृदयता और विदग्धता की परीक्षा लेता है. पूरी कथा का भाव अंत में जाकर अपने अलग और समूचे व्यक्तित्व को लेकर प्रकट होता है. यहीं पर निर्मल की एक सीमा को रेखांकित करना जरूरी है. निर्मल मानसिक. अवस्था या मूड के या संवेदना स्थितियों के लेखक हैं, मनुष्य के विभिन्न स्वभावों के विभिन्न प्रारूप के चितेरे वे नहीं हैं. इसलिए कि वे उन बहुरूपिया लेखकों में नहीं जो अनेक प्रकार के मुखौटों को पहनकर वैविध्य उत्पन्न कर सकते हैं.

मनुष्य के अकेलेपन की स्थितियों को तीव्र दर्द के साथ निर्मल उभारते हैं. मनुष्य के सूखते जाने वाले मानवीय संबंधों की ट्रेजडी को गहराई से अंकित करते हैं, और उनकी तरल आत्मान्वेषणी और सूक्ष्म अंतर्भेदिनी दृष्टि मनुष्य के मन में छिपे पाप के ऐसे रूप और क्षेत्र को ढूंढकर उजागर करती है जहां सामान्यतः ध्यान कम जाता है, और जाता भी है तो कम टिक पाता है. 'कव्वे और काला पानी' का यही केंद्रीय कथ्य है. इसमें द्वंद्व है. सुरक्षितता के लबादे को ओढ़कर गृहस्थी के प्रति अधिक खबरदार परंतु अंदर से हृदय की बीमारी को पालने वाले चालीस वर्ष के व्यक्ति और घर को छोड़कर संन्यास ग्रहण करनेवाले पचास वर्षीय व्यक्ति के बीच की असल में ट्रेजडी तो यही है किंतु सुख और जीवन की धड़कन दोनों के हाथ से छूट गयी है "कोई चीज है इच्छा? शायद वह आदमी का सबसे बड़ा माया-मोह है. इच्छा जिस लाइन पर चलती है उससे कितनी दूर छिटककर हम घिसटते हैं. वह हमें काट जाती है और हम दो में बंट जाते हैं. . . फिर गुस्सा आता है—नपुंसक, बेबस और रुआंसा—जब पता चलता है कि जो हमारे साथ घट रहा है, उस पर हमारी इच्छा का कोई बस नहीं है." यह केवल मास्टर साहब के घर अनिच्छा से आने को विवश लेखक का संदर्भगत कथन नहीं है, निर्मल की कथा के माध्यम से पूरे जीवन पर यह भाष्य है. जीवन की ट्रेजडी का यह भी एक सूत्र है. कथानिवेदक ही क्यों? मंझले भाई भी घर छोड़ने को बाध्य ही हुए हैं. मंझले भाई ने माना कि जिंदगी एक ही है. उन्होंने केवल जगह बदली है. यह भी इसलिए कि "वहां दूसरों के लिए मेरा कोई मतलब नहीं था." मास्टर साहब भी बीमारी का इलाज कराने आये और टीचरी मिली, सो यहीं जम

गये. अघोरी बाबा इन प्रश्नों पर सोचते तो नहीं हैं. वे भी एक ऐसी जिंदगी जी रहे हैं. जिस पर उनका अपना विशेष अधिकार नहीं है. सामान्य जिंदगी की ऐसी स्थितियों को चुनकर निर्मल ने मनुष्य के बड़े दुख का संकेत किया है. कहानी के चारों पात्र अलग-अलग तरह से अपने अकेलेपन की यातना को भुगत रहे हैं, कोई कहीं भी सुखी नहीं है. अघोरी बाबा का चाय के लिए चिपकना और लेखक को विदाई देते समय उदासीनता में भी मानवीय स्नेह की ललक उनके अकेलेपन को ही उभारती है. सबसे अकेले पड़ने की वेदना भोग रहे हैं संन्यासी भाई क्योंकि दूर-दूर से दर्शन के हेतु आनेवालों को न वे अपनी असलियत बता सकते हैं, न झूठ का आडंबर बनाए रख सकते हैं. उनकी असलियत का बहुत ही करुण दृश्य—"दरवाजे के बीच सुराख से जो दिखाई दिया, वहां न सहजो बाबा थे, न मेरे भाई थे—वह एक ऐसे आदमी खड़े थे, जो दीन-दुनिया से बेखबर अपने से बात कर रहे थे. और बीच-बीच में खुद ही हंसने लगते थे. . ."

इतनी तीव्रता से और इतनी कलात्मकता से पाप-बोध की आत्मिक घुमन विरल रूप में ही साहित्य में उभरती है. यह पाप बोध सूखते जाते स्नेह से उत्पन्न हुआ है. लापता भाई की खोज की भी गयी तो उसमें आंतरिक व्याकुलता और प्रेम की गर्मी थी या लोक रीति (हम बहुत बार भावों का अनुभव आंतरिक अनिवार्यता से कम, लोक रीति और जन नीति के अधिक कारण करते हैं—निर्मल की कहानियां ऐसी स्थितियों पर पैनी चोट करती हैं.) या संदिग्धता, इस पर एक राय होना मुश्किल है. यह पाप उस क्रिश्चियन धारणा से नहीं उत्पन्न हुआ है जो सारी मनुष्य जाति के निर्माण में ही स्खलन को देखती है. इसका आधार कोई अमूर्त अवधारणा नहीं, ठोस जिंदगी की स्थिति है. हमारी मनुष्यता के स्रोत ही सूख रहे हैं, कथा निवेदक तीन भाई होते हुए भी मां अकेली कोने में रहती है, बड़े भाई देहरादून में जमीन लेने के लिए पुश्तैनी मकान बेचना चाहते हैं, जो पिता ने पेंशन का सारा पैसा लगाकर बनाया है. मंझले भाई के साथ, दस वर्षों के बाद मिलकर भी, एक रात-भर रहना कथानिवेदक के लिए असह्य है. मंझले भाई के संन्यासी होने में उनकी यह प्रतीति थी कि घरवालों के लिए वे आवश्यक नहीं रहे हैं. संन्यासी भाई की निस्संगता भी आत्मा की उपज नहीं थी—"उनके स्वर में कुछ ऐसी निस्संगता थी, जो हमें आदमियों में नहीं—पेड़, पत्थरों और पानी में मिलती है, जो रिश्तों को लहूलुहान पीड़ा से बाहर जान पड़ती है—क्या यह निस्संगता उन्होंने पिछले वर्षों के अकेलेपन से अर्जित की है. . ." यह निस्संगता मानवीय रिश्तों के सूखने का परिणाम है. किसी अजनबी को पकड़कर सहज मानवीयता की प्रेरणा से अपने घर ले जाने वाले मास्टर साहब का मानवीय व्यवहार विरोध भाव से समूची कथा के केंद्रीय अकेलेपन को तीव्र अवश्य करता है, परंतु उन्हीं मास्टर साहब का रात को पढ़ते समय गाड़ियों के आने-जाने का भान रखना उनके अकेलेपन की तीव्रता को उभारता है. मानवीय रिश्तों की गर्माहट को सोखने वाली स्थितियों के बीच-बीच में ऐसे छोटे-छोटे प्रसंगों को कुशलता से पिरोया है, जो विरोध भाव से पाप बोध को अधिक तीव्र करते हैं. मसलन मंझले भाई की पुरानी स्मृतियों को जीवित करने वाली छुअन, झरने से पानी लेने को बाध्य भाई के प्रति संवेदना का छोटा सा स्रोत, मंझले भैया का छोटे भाई से कुछ दिन रहने का आग्रह, आराम करने के लिए कहकर चाय बनाना, नमकीन की रुचि का याद रखना—ये ऐसे प्रसंग हैं. निर्मल के ही समर्थ शब्दों में. . . "पिछले वर्षों का गूंगा रेगिस्तान एक क्षण में नाप लिया जाता है—शायद इसलिए उन्होंने मुझे बुलाया था. . ." खासकर ये छोटे प्रसंग ऐसी पार्श्वभूमि पर निर्मल ने निर्मित किये हैं. कथा-निवेदक का यह तीव्र आत्मशोध देखिए—"तुम पूरे दस साल के बाद उनसे मिलने आये. थे—और एक रात भी उनके साथ नहीं रह पाये? तुम लिखते हो, लेकिन जब कोई अभूतपूर्व सच्चाई रास्ते में मिल जाती है तो तुम किनारा करके भाग निकलते हो, जैसे जीने का सच्चाई से और सच्चाई का लिखने से कोई नाता ही नहीं है. तीनों चीजें मुर्दों की तरह अलग-अलग फांसियों पर झूलती रहती हैं और अगर भागना ही था—तो एक एक रात भी क्यों ठहरे. . . हमारा परिवार और भाई-बहन आखिरी मौके पर पहुंचकर क्यों हम सब कड़े ठंठल से सूख जाते हैं—सारा प्रेम कहीं राख और रेत में दब जाता था. . .और हम एक-दूसरे को अपनी हालत पर छोड़कर अलग हो जाते थे. क्या यह उदासीनता अपने में पाप नहीं थी? क्या इसी पाप से आतंकित होकर उन्होंने घर नहीं छोड़ा था?" पाप का यह तीव्र बोध किसी काम या हिंसा के दमित रूप पर खड़ा नहीं है. मानव जीवन की यह एक ऐसी नियति है जिसके कारण हम सब कहीं न कहीं पाप से लांछित हैं. . . हम पापी या अपराधी हैं. और उस पर हमारा नियंत्रण भी नहीं है. एकदम यह कहानी मानव जीवन के एक व्यापक रूप को कैनवस पर ले आती है. (यहीं पर एक विचार कौंधता है. हमारी पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्था में कुछ कुछ ऐसे रीतिरिवाज थे जिनके कारण ये मानवीय संबंध सूखते नहीं थे. हम आधुनिक बन गये और इनका स्रोत सूख गया. रिश्तों की गर्माहट के लिए क्या कुछ ऐसी आवश्यकता नहीं है?) निर्मल की कहानी ऐसे प्रश्न तीव्रता से मन में उभारती है—अनुभूति के स्तर पर, यह उनकी एक शक्ति है. पाप बोध की संवेदना का मूल्य इस बात पर उतना निर्भर नहीं कि पाप का स्थूल कारण कितना बड़ा है, इस बात पर है कि कोई कारण कितनी दूर तक हमारी रगों को छूकर झिंझोड़ देता है. निर्मल की कहानी यह काम प्रभावपूर्ण ढंग से करती है.

पाप बोध के विविध रूप निर्मल की कहानियों में मिलते हैं. काम संबंधों पर आधारित पाप बोध की एक सटीक कहानी है—'आदमी और लड़की' चालीस वर्षीय विवाहित आदमी का बीस वर्षीय कुंवारी लड़की से संबंध और उससे उत्पन्न पाप बोध की यह कथा है. परस्पर संबंधों की भावनात्मक उथल-पुथल और पीड़ा को व्यक्त करने के लिए निर्मल अपने पात्रों को ठोस रूप में उपस्थित करते हैं. लड़की की उम्र उसका कद, पोशाक गर्दन आंखें, बाल, कुंआरे हाथ—सब कुछ. दोनों में उम्र का ही नहीं, मानसिकता का भी अंतर है. लड़की संबंधों में सहज है. जबकि आदमी असहज: "लड़की जिस तरह कभी झूठ नहीं बोलती थी, वह कभी सीधा सच नहीं बोल पाता था." लड़की उसे दोपहर का खाना अपने साथ खाने का आग्रह करती तो वह इंकार करता, "दिन की रोशनी में उससे मिलना खतरनाक है." परिणाम यह होता है कि आदमी के व्यवहार में एक कुंठा है जो कभी क्रूरता की हद को छूती है, "ऐसे मौकों पर वह उसे बहुत गौर से देखता था, क्या यह वही लड़की है जिसकी देह को वह पिछली रातों छूता रहा था—और जो दिन में इतनी अछूती दिखायी देती थी? ऐसे क्षण में उसे लगता, वह कहीं नीचे है गड्ढे में, एक जानवर की तरह दुबका हुआ, बार-बार एक ही इच्छा से मथता हुआ कि जब तक लड़की उसकी ओर से बेखबर कॉफी बना रही है, वह उछलकर गड्ढे से निकल सकता है, उसकी सफेद और कुंवारी गर्दन को दबोचकर एक एक छलांग में दुकान से बाहर हो सकता है—दुकान से, पछतावे से, पाप से, सबसे बाहर. लेकिन जब वह आंखें ऊपर उठाती तो उसके सारे इरादे बिखर जाते. वह टकटकी लगाये उसे देखता रहता. लड़की पता नहीं किस खयाल से मुस्काने लगती, वह बंधा रहता—अपने गुस्से और संताप और दिल की दलदल में."—संबंधों की यह व्यामिश्र जटिलता सारी कहानी में व्याप्त है.

पाप बोध लड़की में भी पैदा हुआ था, जब वह पहली बार विवाहित आदमी के साथ सोयी थी. सोने के लिए नहीं, विवाहित के

साथ सोने के लिए. उनके मन में उम्र का अंतर न आता था, न और प्रकार का दुख. उसका दुख दूसरे प्रकार का है."**वह जब-जब आदमी की परीक्षा लेती, आदमी का चेहरा दूर होने लगता. उसकी जगह अपना पाप दिखायी देने लगता, जो उससे वैसे ही प्रश्न पूछने लगता, जिन्हें वह आदमी से पूछती थी. यह चक्कर था, पाप का चक्कर जिसका कोई अंत नहीं था."** लड़की इन संबंधों को सहज लेना चाहती है—"**वह मुस्काने लगी, लोग मुझे उसकी बेटी समझते हैं, उसने सोचा. शायद इसीलिए वह दिन के उजाले में मेरे साथ चलने में कतराता है.**" लेकिन पाप बोध की कचोट आदमी को अस्वस्थ करती है "...**और तब उसे लगा जैसे उसकी उम्र के चालीस साल एक गंदले नाले की तरह दुकान के बीचों-बीच बह रहे हैं और बीच का पानी इतना उथला है कि वह उसमें डूबकर मर भी नहीं सकता... केवल लड़की को उसमें घसीटकर गंदला कर सकता है.**" पाप बोध और अपराध भय की ग्लानि उसके अंतरमन को खाये जा रही है. और अंदर ही अंदर से वह मृत्यु की इच्छा की ओर उन्मुख होता है. लड़की गर्भवती होती है. यह उतनी बड़ी ट्रेजडी नहीं है. ट्रेजडी यह है कि लड़की अनुभव करती है कि उसके साथ एक चीज है, "**किसी का न होना.**"—यह बहुत ही करुण बोध है. संबंधों का अस्वस्थ तनाव आदमी को उस स्थिति पर ले जाता है जब यह है कि वह अंत में कहता है, "**सुनो, मैं मरना चाहता हूं.**" लड़की इस बीच सचमुच उसे प्यार करने लगी है, पत्नी के प्रति उत्सुकता के बावजूद उसके मन में वह पापबोध नहीं है. परंतु असहायता अवश्य है. संबंधों की यह ट्रेजिक परिणति है जिसे पूरी गहनता के साथ निर्मल ने पूर्ण किया है.

निर्मल की कहानियों में मूल आधारबिंदु व्यक्तियों के सूक्ष्म भाव संसार होते हैं और वे भाव संसार अलग-अलग द्वीप होते हैं. एक दूसरे का आना-जाना तो इन द्वीपों में होता है परंतु टिकना नहीं हो पाता. बहुत-सी कहानियां इस आने-जाने की प्रक्रिया को लेकर ही बुनी जाती हैं. '**जिंदगी यहां और वहां**' की इरा और फैंटी ऐसे ही पृथक द्वीप हैं. न्याय-अन्याय के खिलाफ कागजी लड़ाई लड़नेवाला युवक सुरक्षा का कायल है. और अपने मां-बाप के व्यक्तित्वों और पुश्तैनी मकान की सुविधाओं से जुड़ा हुआ है. मानो वे उसके माध्यम से मरकर भी जी रहे हैं. भाव जगत में ही जीवित रहने वाली इरा को बार-बार लगता है कि फैंटी के रूप में वह प्रेत के साथ घूम रही है... अतीत से चिपके रहने वाला प्रेत. खंडित व्यक्तित्व इरा का भी है. क्योंकि अपनी स्वतंत्रता के प्रति चौकसी रहकर भी वह बाप-दादा का मकान, पैसा और सुरक्षा को नहीं छोड़ सकती. इसीलिए आत्मनिरीक्षण के क्षणों में वह अपने को हिपोक्रेट और फ्रॉड भी मानती है—यह उसका वर्ग-चरित्र ही है. फैंटी के साथ प्रेम होते हुए भी वह फैंटी को छोड़ने का निर्णय करती है. और फैंटी उसी शहर में घूमने को विवश है—उन गोपियों की तरह जो कृष्ण से संबंधित हर स्थान और वस्तु के आस-पास दौड़ती रहीं. एक तरह से केंद्रीय भाव दुखमय प्रणय ही है जो शुरू से

निर्मल वर्मा

अंत तक एक-दूसरे को काटता और छीलता रहता है.

कभी फैंटी के तो कभी इरा के संवेदना-केंद्र से कहानी बनायी गयी है तो कभी लेखक खुद निवेदन करने लगता है—स्मृतियों की तटस्थ उत्कटता प्रयोगशीलता को प्रेरित करती है. दो व्यक्तियों की मानसिकता की परस्पर छुअन, चुभन, टूटन और स्मृति जीवित प्यार की यह कहानी है—दोनों बुर्जुआ हैं. लेकिन उनका दर्द पाठक के मन में करुणा का अमिट प्रभाव छोड़ने में समर्थ हो जाता है. एक दूसरे को जानने की जितनी कोशिश वे करते हैं, उतने असफल भी होते हैं, कहीं स्पष्टता नहीं है. पकड़ में रखने लायक कुछ नहीं है. फिर भी मूर्त और अमूर्त के धूप-छांही खेल जैसी यह प्रणय संवेदना पाठक को कोंचती है. दोनों अपने को न बचाकर अपनी ही गवेषणा करते हैं और अपने तईं ही नहीं, दूसरे के प्रति भी प्रामाणिक और पवित्र रहना चाहते हैं. एक तरह से ये दोनों प्रणय-देवता के प्रति पूजा में चढ़ाये गये फूल हैं. इस प्रणय की नींव में ही दरार है—दोनों एक दूसरे से मुक्त होने की प्रार्थना करते हैं. इसका स्थूल कारण कुछ भी नहीं है—सूक्ष्म तो अनेक हैं. कभी एक दूसरे को उत्कट रूप में चाहना भी एक दूसरे से मुक्त होने के लिए पर्याप्त कारण हो सकता है. इरा के शहर छोड़ने के बाद फैंटी की अवस्था यह है, "**घर कहीं नहीं था—दुख था. बांझ दुख, जिसका कोई फल नहीं, जो एक दूसरे में टकराकर खत्म हो जाता है—और हम उसे नहीं देखते जब तक आधा रिक्ता पानी में नहीं डूब जाता. तब हम घबरा जाते हैं, आतंकित से होकर पानी को उलीचते हैं—पर फायदा कुछ नहीं है—जितना दुख हम बाहर निकालते हैं— उससे कहीं ज्यादा सुराख से भीतर चला जाता है. फिर हम बार-बार वहीं लौट आते हैं. मेरा यह कमरा, पिता का बिस्तर, मां की खाली कुर्सी और जून का महीना. वह लायब्रेरी में बैठी रहती और फैंटी स्टेटमेंट तैयार करता—न्याय और झूठ के बारे में—कोई भी चीज-जो किसी तरह सुराख बंद कर सके, बहते पानी को रोक सके.**" यह अतिसंवेदनशील व्यक्तियों की त्रिशंकु अवस्था है. "**वह सूरज है—सूरज का संक्षिप्त धुला हुआ प्रेत. हमारा सुख बिल्कुल वैसा था—एक डबडबायी रोशनी का भ्रम, माया और सच के बीच एक भागती छांह.**"—कहानी का यह केंद्रीय भाव है. दोनों एक दूसरे को प्यार करते हैं और इसीलिए एक दूसरे को कुतरते भी हैं. दो अत्यधिक संवेदनशील व्यक्तियों का यह प्रणय यातनामय है, क्योंकि व्यावहारिक जीवन के स्थूल स्तर पर वे दोनों कभी मिलते ही नहीं हैं. न मिलने के लिए पैदा हुआ था यह प्यार और स्थिति का करुण रूप यह है कि हर स्थान पर इरा फैंटी को पुकारती ही रहती है—"**फैंटी मैं यहां हूं.—यहां—मैं यहां हूं.**"

यहां कोई प्रातिनिधिक चरित्र नहीं है, न प्रेम प्रातिनिधिक है. शायद अति विरल है—लेकिन इसलिए कम सत्य नहीं होगा. अतिरिक्त संवेदनशील व्यक्तियों के यातनामय प्रेम का यह चित्रण एक अनोखे इलाके में ले जाता है. जरूर—परंतु अनोखा है इसलिए असत्य नहीं. अधिक असमंजस दुनिया की पर्त हमारे लिए खुलती है.

अन्य कहानियों की तुलना में निर्मल की '**एक दिन का मेहमान**' कहानी अधिक मांसल, खुली और प्रांजल है—और उसके संगठन में सरलता है. इसका केंद्रीय भाव वेदना ही है—पत्नी और परिणामत: अपनी लड़की के साथ सूखते हुए संबंधों की व्यथा को इसमें व्यक्त किया गया है. पत्नी से संबंध तोड़कर भारत गये बाप का दो साल बाद लड़की से मिलने आना और मां के गुस्से और घृणा की पृष्ठभूमि में लड़की का अपने बाप का स्वागत करना तथा एक रात के रहने का प्रबंध किसी होटल में करना—समूची घटनाओं में आद्योपांत गहरा तनाव भरा हुआ है—"**स्त्री की आवाज कांपती हुई उठी, जिसके पीछे न जाने कितनी लड़ाइयों की पीड़ा, कितने नरकों का पानी भरा था, जो बांध टूटते ही उसके आसपास आने लगा, एक-एक इंच आगे बढ़ता हुआ.**" —पूरी कहानी का भाव-पुंज इसी प्रकार के सघन प्रतीकों और भास्वर बिंबों से शक्तिपूर्ण ढंग से संप्रेषित हुआ है. लड़की के मन पर बोझ है—मां-बाप के संबंधों का, अपनी बढ़ती उम्र और समझदारी का. लेखक का यह मनोवैज्ञानिक निरीक्षण देखिए : "**उसकी पीठ पिता की ओर थी किंतु वह उसके हाथ देख सकता था, पतले और सांवले. बिल्कुल अपनी मां की तरह. वैसे ही निस्संग और ठंडे जो उसकी लायी चीजों को आत्मीयता से पकड़ते नहीं थे, सिर्फ अनमने भाव से अलग देख लेते थे. वे एक ऐसी बच्ची के हाथ थे जिसने सिर्फ मां के सीमित परंतु सुरक्षित स्नेह को छूना सीखा था. मर्द के उत्सुक और पीड़ित उन्माद को नहीं, जो सीधा सेक्स की काली कंदरा से उमड़ता हुआ बाहर आता है...**" —स्थितियों को, मानसिकता को, भाव-संवेदन को, उम्र की भिन्न अवस्थाओं को, मनुष्य के स्थिरचर स्वभाव को कुछ सारगर्भित शब्दों में व्यक्त कर कहानी की बुनावट को सघन और समृद्ध करना निर्मल का एक अन्य वैशिष्ट्य है. परिणामत: कहानी के संकीर्ण कैनवस को व्यंजनापूर्ण व्यापकता का संस्पर्श जहां-तहां मिलकर कहानी को औपन्यासिक स्तर के निकट ले जाता है.

'**दूसरी दुनिया**' के केंद्रीय भाव लेखक (कथानिवेदक) और छोटी लड़की प्रेसा के थोड़े से दिनों के लिए जुड़े आत्मीय संबंध को लेकर हैं. निर्मल की कहानी में गरीबी के प्रति वर्गीय धरातल पर क्षोभ और आक्रोश नहीं मिलता परंतु उसका पूरा गहरा एहसास जब कहानी की रचना में सक्रिय हो जाता है तब कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता है जो आक्रोश भरी अनेक कहानियों का नहीं पड़ता. गरीबी के कारण उत्पन्न होनेवाली मजबूरियों, दयनीयता और कारुण्य का गहरा संवेदन कहानी को अद्योपांत घेरे रहता है. प्रेसा की अकेली दुनिया की दिवास्वप्न-अवस्था और क्रीड़ापटुता के एक साथ करुण और सुंदर चित्रण की पृष्ठभूमि पर कथानिवेदक की क्रमश: गहरी होती जानेवाली वात्सल्य भावना का मर्मस्पर्शी चित्रण निर्मल ने किया है. कभी कबूतरों को दाने चुगाने के लिए एक से अधिक कप खरीदने में असमर्थ कथानिवेदक कुछ दिनों के बाद उसके लिए पूरे दो पौंड जमा कर आता है. और पाता है कि प्रेसा तो अपने पिता के साथ चली गयी—करुणा का एक मधुर छंद दिलो-दिमाग में फैलता है.

चूंकि निर्मल के पात्रों के भावसंबंध स्थूल कार्य-कारणों एवं तर्कों के बीच नहीं पिरोये जाते, इसलिए अनेक पाठकों को दुहरिल, हवाई और अविश्वसनीय लगते हैं. वस्तुत: उनके अधिकांश पात्रों की मानसिकता का रचाव ही अति संवेदनशील तत्त्वों से बना हुआ होता है. इस सीमा तक कि लगता है, निर्मल मनुष्य के नानाविधि रूप नहीं देख सकते, उनके प्रारूप प्रस्तुत नहीं कर सकते. वे स्वभाव-चित्रण न कर संवेदना या मनस्थिति का ही चित्रण करते हैं...

'**धूप का एक टुकड़ा**' में निर्मल एक दुखी नारी का असहायता और अकेलेपन का चित्रण करते हैं. एक ठहरी हुई जिंदगी का यह चित्र एक उदास-सा छंद प्रस्तुत करता है. मानवीय सहानुभूति के एक धूप के टुकड़े के लिए लालायित यह नारी अकेलेपन से ऊबकर सार्वजनिक पार्क में बेंचों को बदलती रहती है ताकि उसे कोई सुननेवाला मिले. आत्मालाप के द्वारा व्यक्त इस नारी की मूल उत्कटता और पैशन को पकड़ने के लिए पाठक को भी अपनी बौद्धिकता और कल्पना को जमकर लगाना पड़ता है. वैसे भी निर्मल कभी कहानी को प्लेट में रखकर पाठक को नहीं देते. इस नारी की ठहराव की स्थिति इतनी 'सफोकेट' करने वाली है कि लगता है, वह पागलपन की सीमा के जरा-सा इधर की स्थिति में है. जरा-सा इधर-उधर हो जाये तो तनाव के बोझ से मस्तिष्क का पूरा शीराजा ही बिखर जाये. इस सबके मूल में कोई व्यावहारिक ठोस कारण नहीं है. महज यह एहसास कि पति का प्रेम खत्म हो गया है —"**बरसों पहले की गूंज, जो उसके अंगों से निकलकर मेरी आत्मा में बस जाती थी, अब कहीं न थी. मैं उसी तरह उसकी देह को टोह रही थी जैसे कुछ लोग पुराने खंडहरों पर अपने नाम खोजते हैं, जो मुद्दत पहले उन्होंने दीवारों पर लिखे थे. लेकिन मेरा नाम वहां कहीं नहीं था.**" दोनों के बीच यह संबंधों का सूनापन तज्जन्य, उदासीनता और अलग होने का निर्णय, फिर पागल बनादेने वाली धूप के टुकड़े की खोज—दुर्भाग्य यही है कि इस वाकये की लोगों को खबर तक नहीं होती. कोई एक निर्मल इस मानसिक भूचाल की खबर आप तक पहुंचाता है. आप चाहें तो गहरे स्तर पर इस व्यथा से झकझोर जाते हैं.

'**सुबह की सैर**' में भी अकेलेपन की चरम स्थितियां हैं. जहां जीने की हविश खत्म होती है और मृत्यु मायापाश-सी निमंत्रित करती है. पत्नी की मृत्यु, लड़के का विदेश में वास्तव्य, अकेले नौकर का सहारा, नौकरी का अधिकार खत्म—केवल अकेलापन. निहालचंद बुढ़ापे में जिंदगी गुजार रहे हैं—उनींदी झपकियों, जागरण और स्वप्न की सीमा रेखा पर स्थित धुंधले अनुभवों के माध्यम से कथा के सूत्र प्रस्तुत किये गये हैं. कर्नल निहाल चंद का लौकिक जीवन तो ठीक ही बीता क्योंकि बाहर कुछ अवलंब भी था. बचपन के प्रेम को कुचला जा सकता लेकिन जिंदगी में भीतर की छुअन और आर्द्रता नहीं थी. **इसका बोध** होता है बुढ़ापे में—असहाय अकेलेपन में. जब कट्टो (बचपन की मित्र थी, प्रेयसी थी. शोख और निष्पाप जिंदगी थी, जीवन को सार्थक और भरापूरा करनेवाली छोटी-छोटी बातें थी. सब कुछ, जिसमें जीवन ढोने का नहीं, जीने का बोध होता है.) उनके शरीर को टटोलती है और पाती है, उनके पास कुछ नहीं है. जीवन की विडंबनाओं और विसंगतियों को निर्मल ने 'कमीव' किया है '**कव्वे और काला पानी**' में भी और इसमें भी. विवाह, बैंक-बुक, पेंशन इत्यादि अपनी जिंदगी जीने के सहायक तत्त्वों के सहारे ही जब हम जिंदगी को जीना चाहते हैं तो कभी न कभी इस सवाल का जवाब देना ही पड़ता है —"**प्रेम? क्या तुम किसी से प्रेम कर सके निहाली? कर्नल निहालचंद?**" और इस मजाक को...तिलमिला देनेवाले मजाक को भी मानना पड़ता है—"**ओ निहाली, क्या सब कुछ खाली.**" का यह एहसास मृत्यु की ओर ठेलता है., आत्महत्या की ओर भी. निर्मल की सभी कहानियों में विरोध (या कंट्रास्ट) का विशेष उपयोजन होता है. यहां यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है—बच्चे और बूढ़ा निहालचंद्र और निहाली. कट्टो और निहालचंद, सुबह की सैर और मृत्यु यात्रा...इससे कहानी के रचाव में भी प्रभविष्णुता आती है.

निर्मल की कहानियों को पढ़ते समय ऐंद्रिय बोध के वैविध्य और तीव्रता के साथ मानव जीवन की शाश्वत स्थितियों और संवेदन बिंबों का साक्षात्कार होता है. यह साक्षात्कार जिंदगी के प्रश्नों के बारे में हमें कोई हल नहीं देता. (कुछ प्रश्न तो ठोस व्यावहारिक जिंदगी के हैं ही नहीं. वे संवेदनशील मनुष्य के नाते पैदा होते हैं... जो सूक्ष्म है, मानसिक है, स्प्रिचुअल भी है—परंतु हैं शाश्वत-से.) लेकिन हमारी समझदारी का दायरा और गहराई, दोनों को बढ़ाता है. जिंदगी के मूलभूत मूल्यों और श्रेयों की बात पर हमें विचारों की उलझन में डाल जाता है. सारी कहानियां एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाती हैं...आत्मान्वेषण करने के लिए विवश करती हैं—क्या हमारे मानवीय संबंधों के सूखते स्रोतों को रेगिस्तान में परिणत हो जाने से हम बचा सकते हैं? अगर एक टुकड़ा धूप हम भी चाहते हैं तो क्या किसी को थोड़ी-सी गरमाई हम देते भी हैं? अकेलेपन के काले पानी की सजा भुगतने के बदले क्या हम भी थोड़ा मानवोचित व्यवहार नहीं कर सकते? थोड़ा प्यार, थोड़ी उदारता, थोड़ी दूसरे के दृष्टिकोण के प्रति समंजसता? निर्मल की कहानी का सौंदर्य ऐसे शिव और सत्य संबंधी विचारों और लगावों की दुनिया में हमें हौले-से ले जाता है. क्या साहित्य की चरम सार्थकता यही नहीं है? ☐